स्वर्गीया

धर्मपत्नी की

स्मृति

में

सफ़ाई

किसी कारणवश पुस्तक का नाम 'देवी' न रखकर 'ज्योतिर्मयी' रखना मैंने अधिक उपयुक्त समझा। यद्यपि 'देवी' के नाम से इसका विज्ञापन बहुत पहले निकल चुका था। इस संबंध में मैं कुछ नहीं कह सकता, जैसा कुछ है आपके सामने है, अपनी ओर से कुछ कहूँ भी तो, इतना ही कह सकता हूँ कि—

"न सितायश की तमन्ना न सिले की परवा
गर मेरे अशयार में मानी न सही।"

श्रावणी पूर्णिमा
१९९०

अनूप

ज्योतिर्मयी

१

संसार अनंत है इतना अनंत कि इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसको मैं इस विश्व-प्रांगण में बड़ा-से-बड़ा स्थान देता हूँ, वह इसकी अनंतता के सामने कितना नगण्य है—कहा नहीं जा सकता। फिर इस उमड़े हुए जन-सागर में एक मनुष्य का स्थान उसके एक बूँद से भी शायद कम ही होगा। तब ऐसे मनुष्य के जीवन का महत्त्व और मूल्य ही क्या! ऐसी दशा में यदि मैं अपनी आत्म-कहानी यहाँ अंकित करूँ तो वह मेरी मूर्खता और धृष्टता ही समझी जायगी। आज मैं वही धृष्टता करने बैठा हूँ—बैठ गया हूँ अपनी अतीत-स्मृतियों को, बटोरकर, अंकित करने! जानता हूँ—यह चित्र न तो मनोरम ही होगा और न स्फूर्तिदायक ही—फिर भी चित्र खींचने बैठा हूँ। कारण, इसमें एक प्रलोभन है—और वह यही कि, अतीत की स्मृति, चाहे वह विषादपूर्ण ही हो क्यों न, होती है बड़ी मधुर। वह वीणा के तार के सोए हुए झंकार की तरह आघात पाते ही मधुर भाव से झंकृत हो उठती है।

हाँ तो, जब मैं नादान था—बच्चा था तब इसका कुछ भी मर्म नहीं समझ सकता था और न कभी इसके समझने की चेष्टा ही मैंने की थी। बचपन से ही मैं रूखा था—हठी था और बिलकुल जिद्दी तबीयत का। अपने सामने मैं किसी को कुछ भी न लगाता। कोई मुझसे बड़ा न था, सभी पर मैं सिरताज था—सभी पर मेरी हुकूमत थी—सभी मेरे रोब पर आँखें नीची कर लेते। पर, इसके लिए मैं अपने को दोषी नहीं समझता! कारण है, बचपन में न तो मुझे माँ का प्यार नशीब हुआ और न पिता जी का स्नेह ही। स्नेह पाता तो कहाँ से? पूज्य पिता ने मुझे कपूत समझकर मुझसे पहले ही संबंध-विच्छेद कर रखा था। मेरे जन्मने के डेढ़ साल बाद वे दुनिया से उठ गए थे। हाँ, माँ की स्मृति अब भी मेरे हृदय में रह-रहकर चिकुटी काट जाती है। शायद उनकी यह स्मृति भी सजीव न रहती, पर कुछ ऐसी घटना घटी मेरी आँखों के सामने, जिससे उनकी मूर्त्ति मेरे हृदय-पटल पर अब तक अंकित है और शायद आजीवन अंकित रहेगी।

हाँ, कुछ बात ऐसी हुई। माँ, याद पड़ता है, पलँग पर लेटी पड़ी थीं। रह-रहकर उन्हे प्रबल वेग से खाँसी का दौरा आता और साँस फूलने लगती। इसी दौरे में कभी-कभी वे संज्ञा-शून्य तक हो जातीं। एक दिन की बात है—और शायद माँ के लिए वही आखिरी दिन था—मैं बाहर से दौड़ा हुआ आया और सीधे माँ के पास जा पहुँचा। मैं काफी जोर से दौड़ा था—इसीलिए मैं माँ की बिछावन के पास खड़े-खड़े हाँफ रहा था। मेरी दृष्टि—

करुण दृष्टि—माँ के सौम्य मुख-मंडल पर मँडरा रही थी। कारण था—मैं अपने हमजोलियों में से एक को काफी चपत लगा आया था। डर था कहीं वह पीछा करते हुए मुझपर टूट न पड़े—इसीलिए, मैं माँ के संरक्षण में पहुँच चुका था। फिर भी मैं भयभीत था, आँखों में करुणा नाच रही थी। इसी समय माँ ने करवट बदली—कुछ सजग हुईं। बोध हुआ मानों मैंने ही आकर उनकी नींद तोड़ दी। उन्होंने आँखें खोलीं—मुझे देखा—आँखें पसारकर देखा और कदाचित क्षीण कंठ से पुकारा—आ, बेटा, इधर आ! मैं माँ से लिपट गया। माँ ने भी मुझे छाती से लगा लिया। मेरे सारे बदन में धूल लगी थी—मैं भभूत लगाकर अगड़बं बना था। माँ ने बड़ी सहानुभूति से, प्यार से, अपनी क्षीण किंतु सुकुमार उँगलियों से मेरे सारे बदन की धूल झाड़ी फिर मेरे मुँह को चूमकर बोल उठी—

"क्यों, बेटा, डरे-जैसे क्यों दीख रहे हो?........।"

माँ और कुछ बोलना चाहती थी, पर बोल न सकीं। खाँसने लगी थीं वह!

"नहीं, माँ, डर तो नहीं। हाँ हूँ मैं!"—मैंने दिल को जरा कड़ा करके कहा, "देखो न, माँ, सभी साथियों ने मिलकर मुझपर धूल डाल दी है।"

"तभी तो बड़े सुहावने दीख रहे हो, बेटा!"—माँ ने मुस्कराते हुए कहा, "साथियों के स्नेह की धूल क्या सभी को नसीब होती है, बेटा! तुम तो सुशील हो—अपने नाम की लाज़ रख, भैया!

सभी से स्नेह का बरताव करना! साथी अगर तुम पर धूल भी डाले, पर, बिगड़ना नहीं—खुशी ही मनाना बेटा। तभी तो तुम्हें सभी समझेंगे—अपना कहकर पुकारेंगे।"

"पर, माँ, मैंने ऐसा किया कहाँ ?"

यह बात मेरे मुँह से योंही—अनायास ही निकल गई। यद्यपि मैं अपनी बातों को छिपाना चाहता था फिर भी मैं छिपा न सका। माँ का अपत्य-स्नेह मुझे झूठ बोलने से मना कर रहा था। मैंने कह दिया—मैं तो........!

माँ बीच ही में बात काटकर बोल उठी—क्या तुमने कुछ गालियाँ तो न दीं, सुशील—मेरे लाल!

"हाँ, माँ, मुझे बड़ा रोष हो आया और छूटते हुए मैंने तड़ातड़ दो-चार गालियाँ निकाल ही दीं।—मैंने सिर खुजलाते हुए कहा।

मैं माँ की छाती से अलग हो पड़ा। सच कहता हूँ—छाती मेरी खूब जोर से धड़क रही थी और आसन्न विपद् की अस्पष्ट रेखा मेरी आँखों पर झूम रही थी।

"यह तुमने क्या किया, बेटा! मैं समझाकर हार गई; पर तुम मानने ही लगे क्यों ? मैं तो चंद घंटों की मेहमान बनी बैठी हूँ, अगर तुम योंही ऊधम मचाते रहे तो आखिर तुम्हारी क्या गत होगी ? बेटा, तुमने यह अच्छा नहीं किया। गालियों से दो हृदय कभी जुड़ नहीं सकते, बल्कि, जुड़े हृदय में भी गाँठ डालने-वाली हैं ये! इस व्यवहार से तुम किसी के प्यारे न हो सकोगे। सभी तुम्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे।

मेरी आँखों में न जाने कहाँ से आँसुओं का समुद्र उमड़ पड़ा। धीरे-धीरे सिसकियाँ बँध गईं और कुछ क्षण के बाद मैं जोर से रो पड़ा। पर, क्यों रो पड़ा मैं—खुद नहीं कह सकता ? माँ के हृदय में दया का दरिया बह चला। मैंने देखा—उनकी पलकें भींगी हुई हैं—शायद वे अपने आँसुओं को सँभाल रही हों। माँ ने स्नेह से मुझे अपनी ओर खींच लिया और बड़ी देर तक अपनी छाती से मुझे लगाए रहीं। मैं उस समय अपने आप तक को भूला बैठा था। मैं बदमास होकर भी उस समय सचमुच 'सुशील' बना हुआ था। पर, हाय री छलने ! काश, अगर मैंने माँ का कहा माना होता ! आह !·········

उसी समय माँ को फिर से खाँसी का दौरा हो आया। इसी बीच में उनके मुँह से लोहू के कतरे भी निकल पड़े। कुछ देर के लिए माँ संज्ञा-शून्य हो गईं। मेरा सिर चकरा उठा—आँखों-तले अँधेरा छा गया। वह सुरम्य भवन, देखते-ही-देखते श्मसान-सा दीख पड़ने लगा। बात-की-बात में सारा ठाठ ही बदल गया। इसी बीच में चाची दौड़ पड़ीं। माँ को देखा। चीख पड़ीं वह—कहाँ हो बहन ! मुझे अकेली छोड़कर कहाँ जा रही हो ?

मैं शून्य-दृष्टि से माँ की ओर देख रहा था, पर, मैंने चाची की बातें समझ न पाईं। इसी बीच में माँ एक बार कराह उठीं ! पथराई आँखों में फिर से दृष्टि दौड़ पड़ी। वे धीमे स्वर में बोल उठीं—कहाँ है, मेरा मुन्ना ! जरा इधर ला दे, छोटी !

चाची को माँ छोटी ही कहकर पुकारतीं। चाची ने मुझे गोद

में उठाकर माँ के पास बैठा दिया और वह भी एक ओर पास ही बैठ गई। माँ ने मेरे सिर पर हाथ फेरा, फिर मेरे दोनों गालों को बारी-बारी चूमा और बड़ी देर तक मुझे अपनी छाती से लगाए रहीं। कुछ देर के बाद उन्होंने एक आह भरी, फिर चाची की ओर देखती हुई बोल उठीं—छोटी, एक बात कहूँ ? मानोगी ?

यह क्या कहतीं, दीदी ! एक नहीं, सौ कहो, मैंने कब आपकी बात दुलख की है !

हाँ, छोटी, तुम मेरी उस जनम की सगी बहन जो ठहरी ! तभी तो हम दोनों में जैसी निबह गई, वह क्या इस संसार में कहीं दीख पड़ सकती है !—फिर भी इस स्वार्थी संसार में—जहाँ अपना भी ऐसा नहीं कर सकता !

माँ, न जाने और क्या-क्या कहा चाहती थीं—पर उनसे आगे कुछ बोला न गया। वह उसकी ओर देखती हुई चुप हो रहीं।

"नहीं, दीदी, मुझे दुख है कि मैं आपकी सेवा न कर सकी। फिर भी जो कुछ कहा चाहती हो—मैं प्राणपण से पालूँगी। हाँ, क्या कहतीं—दीदी !"

"—यही की रामू, जगदीश और सुरेश के समान सुशील की देखभाल करना !"

माँ चुप थीं। चाची न जाने क्यों, सिसक-सिसककर रोने लगीं। कुछ देर तक एक अजीब सन्नाटा-सा छा गया वहाँ ! फिर माँ ने मेरी ओर अपलक नेत्रों से निहारा—स्नेह की दृष्टि से निहारा

और मुझसे कहा—"बेटा, आज से तुम्हारी माँ तुम्हारी चाची हुई। देखना, बेटा! ऐसा कोई काम न कर बैठना जिससे मेरी आत्मा को ठेस लगे। फिर माँ ने मुझे चूमकर उठने की कोशिश की, पर उठ न सकीं। लेटे-लेटे ही माँ ने मुझे चाची की गोद में डाल दिया। उस समय का दृश्य बड़ा ही करुण था! एक ओर माँ की आँखों से आँसू झर रहे थे और दूसरी ओर चाची सिसक रही थीं। और, मैं दोनों की ओर देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा था।

इसके कोई पाँच-सात मिनट के बाद फिर से माँ को दौरा हो आया! साँस फूलने लगी। पर, आह, देखते-ही-देखते साँस रुक गई। चेहरा विकृत हो गया—आँखें पथरा गईं। मालूम हुआ—माँ इस संसार से चल बसीं। चाची धड़ाम से जमीन पर गिरकर रो पड़ीं। फिर वह सँभलीं—उठ बैठीं और उन्होंने मेरे हाथ से माँ के मुख में गंगा-जल ढलवाया। कुछ जल तो भीतर गया और कुछ मुँह से बाहर निकल पड़ा। चाची जोर से चिल्ला उठीं। उनका आर्त्तनाद सुनकर चारो ओर से आदमी दौड़ पड़े! घर भर गया। भीड़ बँध गई। सभी के मुँह पर वेदना की छाप थी! सभी विषाद-सिंधु में डूबने-उतराने लगे! कोई कह रहा था—आह! कैसी लछमी थीं!......मुँह से बोली तक न सुन पड़ी! कोई कहता—आँखें उनकी कभी जमीन से ऊपर न उठ सकीं। और कोई कुछ—कोई कुछ—न जाने क्या-क्या! पर, मैं क्या सोच रहा था—पता नहीं।

बस, माँ का स्मृति-चिह्न इतना ही मेरे पास है। माँ ने जो मुझसे कहा था—धूल में ही प्यार है—हाय! मैंने उसे नहीं समझा—न कभी मैंने समझने की कोशिश ही की। आह! यदि मैं उनकी आज्ञा पर चला होता तो, आह, क्या मेरा जीवन योंही निरर्थक होता!

२

माँ मर गई। जीते-जी मैं उन्हें पहचान न सका—उनके प्यार का कुछ आदर न कर सका। फिर भी मुझे आदर-सम्मान की कमी न रही। कारण था, माँ के अनुरूप ही मेरी संरक्षिका मेरी चाची थीं।

चाची के तीन पुत्र थे—तीनों मुझसे बड़े—मेरे भाई थे। बड़े का नाम था—रामचंद्र—बस 'रामचंद्र' ही समझिए! उनपर मेरा पूज्य भाव था—बड़े होने के कारण नहीं, बल्कि उनकी आत्मीयता और आंतरिक स्नेह के कारण ही मेरी श्रद्धा उनके प्रति अतीव बढ़ी हुई थी। वही घर के मालिक थे—सुघड़ मालिक! वह घर ही पर रहते, जमींदारी का काम-काज चलाते और बड़ी अनन्यता के साथ घर-गिरस्ती का भार चलाते। बाकी दो भाई—जगदीश और सुरेश—घर से अन्यत्र, शहर में, रहते और वहीं पढ़ा करते। गर्मी के समय, छुट्टी पाने पर ही, वे घर आते। उस समय, सच-मुच, सभी मिलकर स्वर्ग का सुख लूटते। कोई नहीं जानता—हम लोग अपने सगे भाई न हों।

पर, जितना ही इधर सुख था, उतना ही उधर, भाभियों में आपस का कलह! जो हो, मैं इसका अनुमान ही क्या लगाता! मेरा वह स्वर्ग का संसार था—बड़ा ही मधुर! मैं जिस तरह अपनी माँ के समय खेलता-कूदता, उधम मचाता, उतना ही नहीं, उससे अधिक—बहुत अधिक इस समय उधम मचाता! मुझे पूरी स्वतंत्रता थी! आह! पर, मेरी स्वतंत्रता—वह जहरीली स्वतंत्रता अंत में बड़ी घातक सिद्ध हुई। मैं पक्का अल्हड़ ही बनता गया। ऊपर से चाची का प्यार ही मेरे विनाश का कारण हुआ।

मैं उस समय केवल आठ-नौ साल का था।

मैं चाची के साथ ही सोता। वही मुझे अपने सामने खिलातीं नहलातीं—चुमकारतीं और मीठी-मीठी बातें करतीं। उन्होंने ममता उढेल दी थी मुझपर! एक दिन, मुझे स्मरण है, चाची पड़ोस के घर गई थीं शायद किसी काम से! मैं उछल-कूदकर—धमाचौकड़ी मचाते हुए आया। संभवतः, पाँच बजे होंगे। बड़ी भाभी से मैंने कहा—भूख लगी है, भाभी! कुछ चबेना दे मुझे!

"क्यों, चाची कहाँ गई हैं? उनसे क्यों नहीं माँगते? आए सिर खाने .....!"—भाभी ने रुखाई के स्वर में कहा।

"क्या हुआ? चाची नहीं हैं तो इससे क्या? तुम तो हो ही! दे-दो भाभी! भूख लगी है!"—मैंने हँसते-हँसते ही कह दिया!

"देखते नहीं!"—उन्होंने बिगड़कर कहा, "आँख में फूली समाई है? मैं अभी-अभी लल्ला को दूध पिलाने बैठी हूँ! बच्चे

को जभी दूध पिलाने लगती हूँ, तभी भूत सवार हो जाता है।"

मैं अपना सा मुँह लेकर कुछ देर तक खड़े-खड़े उनकी ओर देखता रहा। उनका चेहरा तमतमा उठा था। दूसरे घर में दोनों दूसरी भाभी रसोई बना रही थीं। मैं उनके पास न जा सका। मैं न जाने क्या सोचकर पड़ोस के घर की ओर चल पड़ा। चेहरा उदास था मेरा। डाँट खाई थी न! मैंने चलकर देखा—चाची थीं वहीं। मैं वहीं, उनके सामने खड़ा हो गया। चाची ने अपनी ओर खींचकर बड़े प्यार से कहा—"कैसे आए, बेटा! क्या तुम मुझे खोज तो नहीं रहे थे!"—चाची ने अपनी गोद में लेकर मुझे चूम लिया।

"नहीं चाची! घर में देखा—तुम न थीं। इसलिए, मैं इधर चल पड़ा।"

"अच्छा, चलो, बेटा, अब घर को चलें।"

और दोनों साथ ही चल पड़े। रास्ते में मैंने उनसे कहा—भूख लगी है, चाची! मैंने बड़ी भाभी से खाने को माँगा, पर...।

"अच्छा, चलो, बेटा! मैं चल ही रही हूँ, कितना खाओगे?'

चाची का मुँह उदास-सा हो उठा—मैंने देखा। पर, मैं समझ न सका—क्यों?

चाची ने घर आकर आलमारी से मिठाई और कुछ चने निकालकर दिए। मैं खड़ा-खड़ा चाची के पास ही खाने लगा। चाची ने बड़ी भाभी से कहा—जरा उठकर बच्चे को दे दी होती न?

बस, सुनने की देर थी! वह झल्लाकर बोल उठी—"आप तो योंही बिगड़ उठती हैं! मैंने तो इनसे इतना ही कहा था—जरा, ठहरो, मैं दिए देती हूँ। आप ही खिसक गए तो मैं उनके मुँह में ठूँस देती?"

"क्या तुम बोल उठीं, बड़की! जैसा अपना लड़का, वैसा पराए का। फिर सुशील तो कुछ पराया है नहीं।"

"तो उन्हें कौन कहता है पराया?"—बड़ी भाभी ने गर्म होकर कहा।

"यह परायापन नहीं तो और क्या है? तुम्हें जब कोई बात कहती हूँ तब बिगड़ ही उठती हो!"—चाची ने कुछ रुखाई से कहा।

"बिगड़ उठती हैं आप? मैं किस बूते पर बिगड़ूँ!"

भाभी ने रुखाई से अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया। पर, मैंने देखा—चाची की आँखों से आँसू टपककर जमीन पर गिर रहे थे!

मैं खाते-खाते बाहर की ओर निकल पड़ा। दरवाजे पर मदारी बंदर नचा रहा था। बड़ी भीड़ लगी थी। गाँव के बहुत से लड़के जिनमें मेरे हमजोली के थे तमाशा देख रहे थे। भैया उसी समय बाहर से आये। वे भी तमाशा देखने लग गये। मदारी ने भैया की ओर इशारा किया। कुछ ही क्षण में बंदर भैया के पैरों पर चुहल मचाने लगा।

भैया ने हँसते हुए कहा—मैं मालिक नहीं हूँ, मदारी! मालिक

तो यह है ? भैया ने मदारी को मेरी ओर संकेत कर दिया।

बंदर भी न जाने कैसे, भैया को छोड़कर, मुझे ही मालिक समझ बैठा और मेरे पैरों पर आकर चुहल मचाने लगा। सभी लड़के हँस रहे थे; पर, मैं, मन-ही-मन, अपने को मालिक समझ खूब खुश हो रहा था। भया ने मेरे हाथ में दुअन्नी देकर कहा—दे दो सुशील, इसे।

मैंने दुअन्नी हाथ में लेकर उसे दे दी। बंदर ने झुककर सलाम किया। मदारी ने भैया से कहा—"सरकार, जरा चावल दिलवा दो। साँझ हो गई है, खाने-पीने का जुगाड़ करना है।"

वहाँ और कोई न था। इसीलिए, भैया ने मुझसे कहा—जा, सुशील, जरा, भीतर से चावल ला दे इसे !

मैं भीतर की ओर गया। चाची आँगन में न थीं। पर, बड़ी भाभी वहीं लल्ला के साथ खेल कर रही थीं। उन्हीं से मैंने कहा–भाभी, थोड़ा चावल दे दो। भैया ने मदारी को चावल देने को कहा है।

"भैया को कहते, वही चावल ले जाते! चावल क्या मेरे पास धरा है जो मैं दे दूँ। हाथ थोड़े ही कोई पकड़े हुए है, दे दो जाकर!"

मैं घर के भीतर गया। वहाँ से एक बर्त्तन में अंदाज आध सेर चावल निकालकर लेता ही जा रहा था कि भाभी ने झपटकर कहा—"जरा और लेते जाते। बोरा ही क्यों न उठा लिया?'

मैं सकपका-सा गया! इच्छा हुई कि, सभी वहीं उडेल दूँ;

पर, मैंने ऐसा न किया। मैं बिना कुछ सोचे-समझे चावल लेकर निकल पड़ा।

मदारी चावल लेकर बड़ा खुश हुआ। वह बड़े-बड़े आशीर्वाद देकर चलता बना। भीड़ भी उसीके साथ चली गई। रह गया मैं और भैया!

भैया ने कहा—चलो, सुशील, चलें; थोड़ा जलपान किया जाय। और वे मेरा हाथ पकड़कर अपने कमरे में लेते आए। वे कुर्सी पर बैठ गए। मैं पलँग के सहारे खड़ा रहा।

उसी समय बाहर से बड़ी भाभी भी आ गईं। उन्होंने एक तस्तरी में कुछ मिठाइयाँ और दालमोट निकाल दिए और सामने ही लल्ला को गोद में लिए खड़ी हो गईं।

मैं आप ही आप, न जाने क्यों, डर-सा रहा था—मुझे नहीं मालूम! इसी बीच भैया बोल उठे—आओ, सुशील, खाएँ।

"खा चुका हूँ, भैया!"—मैंने अनिच्छा दिखलाते हुए कहा।

कह तो दिया; पर, मन में खाने की इच्छा बनी थी। भैया ने फिर से कहा—खाया है तो इससे क्या? आओ, और मेरे साथ जरा और खा लो।

मैं सामने आ गया। भैया भी खाने लगे और मैं भी।

एक-दो कवल खाया होगा कि भाभी बोल उठी—देखो न भला, पेट है या भंडार। लगा धड़ाधड़ निगलने!

"अच्छा कहा"—भैया ने व्यंग के स्वर में कहा—"निगलता

ही है तो तेरा क्या निगलता है ! कुछ खाने भी देगी वा लगी वही कपास ओंटने !"

"मुँह क्यों बिगाड़ते हो ?"-वह तमककर बोलीं —"निगले न ! मैं हाथ क्यों पकड़ने लगी !"

इतना कहकर भाभी रुखाई से, तमककर, न जाने क्या, अनाप सनाप बकती वहाँ से बाहर चली गइ। मैं भैया के साथ जलपान कर फुलवारी की ओर टहलने को, भैया के साथ, चल पड़ा।

३

संध्या के बाद, कुछ ज्यादा झुटपुटा होने पर मैं भैया के साथ बाहर से घूम आया। आज मेरे आनंद का कोई ठिकाना न था। कारण था—उनके साथ बाहर टहलने का यह पहला और नया ही अवसर था। पर, मैं क्या जानता था कि, मेरा आनंद किसी का रुलाकर ही हुआ है !—मेरे आनंद का मूल्य आँसू शोक और कलह है। मैं बाहर से हँसता, खेलता, मचलता आया था, पर, घर आने पर सारा ठाठ ही बदला हुआ दीख पड़ा। घर पर अपने कमरे में बैठी मेरी बड़ी भाभी सिसक-सिसककर रो रही थीं।

मैंने अपने आँगन में जैसे ही पाँव बढ़ाया—छोटी भाभी वहीं आँगन में खड़ी थीं। शायद मेरी ही प्रतीक्षा कर रही थीं वह ! आते ही उन्होंने मुझसे कहा-सुशील, आओ, इधर मेरे कमरे में।

और वह अपने कमरे की ओर चल पड़ीं, मैंने भी उनका अनुसरण किया।

उन्होंने वहाँ एक कुर्सी पर बैठालकर मुझसे कहा—आज तुमने जेठानी से क्या कहा है जो वे तुम्हारे नाम पर आँसू बहा रही हैं ?

मैं सन्न-सा हो रहा। मै जवाब में क्या कहता ? मैं चुप था।

"क्यों, चुप क्यों हो गए, सुशील ? क्या तुमने उन्हें चिढ़ाया है ?"

"चिढ़ाना !...चिढ़ाऊँ मैं क्यों, भाभी ?"

"अच्छा यह तो कहो—आज तुमसे उनको कुछ बातचीत भी हुई थी ?"

"बातचीत तो ऐसी कुछ न हुई, भाभी ! मगर मैंने जब उनसे कुछ खाने को माँगा था तब मुझसे वह बिगड़ उठीं। पर, मैंने तो उनसे कुछ ऐसा नहीं कहा।"

छोटी भाभी मुझसे और कुछ न बोलीं। पर, मैंने देखा—वह बड़ी देर तक अन्यमनस्क हो, न जाने क्या-क्या सोचती रहीं। कुछ क्षण के बाद वह मुझसे बोल उठीं—जब तुम्हें कुछ कहना हो, सुशील, तब मुझसे कहा करना। समझे ?

"अच्छा, भाभी, मैं तुमसे ही कहा करूँगा।"

"जब भूख लगे और कुछ कहने को जी चाहे तो मुझसे ही कहना।"

"हाँ, भाभी, मैं तुमसे ही माँगा करूँगा। पर, भाभी, बड़ी भाभी मुझे कुछ न खिलायेंगी ? क्यों न खिलायेंगी, भाभी ?"

"खिलायेंगी क्यों नहीं। पर, उन्हें जब दुख होता है तब उनसे माँगना · · ।"

इसी समय बड़ी भाभी, न जाने कहाँ से, वहाँ आ धमकीं और छोटी भाभी से बिगड़कर बोलीं—तभी तो यह शेर बनता जा रहा है! तुम्हीं लोग तो यह नया झगड़ा पैदा कर रही हो! मैं उनकी दुश्मन हूँ न! खाने में जहर घोल दिया करती हूँ! इसीलिए यह मुझसे क्यों खाने लगे!

बड़ी भाभी का चेहरा देखकर मैं सहम-सा गया। उनकी दोनों आँखें अंगारे-सी जल रही थीं। चेहरा बड़ा भयानक-सा हो रहा था। मैं उन्हें देखकर एक ओर स्तब्ध था और दूसरी ओर छोटी भाभी नीरव-निस्पंद-सी हो रही थीं। सचमुच हम दोनों की बुरी दशा थी। मालूम पड़ता था—हमलोग किसी अभियोग में पकड़े गए हैं। दारोगा हमारे सामने खड़ा है।

अंत में छोटी भाभी से न रहा गया—वह बोल उठीं—मैं तो इनसे योंही कह रही थी। इसमें झगड़ा खड़ा करने की कौन-सी बात है, दीदी! जहर आप इन्हें क्यों देने लगीं?

"नहीं। मैं तो सभी को जहर ही दिया करती हूँ।"

"यहाँ तो जहर की कोई बात ही नहीं है। योंही आप अपने ऊपर कलंक उठा रखें तो यह दूसरी··· ··· ···।"

"क्या मैं अपने ऊपर कलंक आप उठा रही हूँ? अपने ऊपर कोई कलंक उठाया करता है जो मैं उठाऊँ? देखती हूँ—मैं इस घर में दूध की मक्खी हो रही हूँ। न रोते बनता है और न हँसते

ही। ·····अच्छा, खूब सिखो-पढ़ा लो; मेरे विरुद्ध जितनी आग लगाना हो, लगा लो। जब मेरे "अपने" ही मेरी बात नहीं सुनते-मेरे कहे में नहीं हैं, तब जो न मुझे लौंडी बनाए !"

"लौंडी कौन बनाती है, दीदी ! ऐसा कलंक क्यों लगाती है ?"

"कलंक क्यों लगाऊँ ? तुम तो दूध की धोई परी हो। कुछ जानती ही नहीं; भोली-भाली ! दुधमुँही !

छोटी भाभी की आँखों में आँसू छल-छला आए। उनके मुँह से एक बात भी न निकल सकी। मैं अवाक् होकर उसी जगह खड़ा था। मेरी अंतरात्मा कह रही थी—सारे फसाद का घर, बस, मैं ही हूँ। मेरे ही चलते ही इन दोनों में यह वाक्-युद्ध छिड़ गया है !

इसी समय बाहर से भैया के शब्द सुन पड़े। भाभी वहाँ से उधर की ओर ही चल पड़ीं। मैं ज्यों-का-त्यों खड़ा ही था। छोटी भाभी बैठी-बैठी सिसक रही थीं।

मैंने उनके हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा—छोटी भाभी, यह क्या ? तुम सिसक रही हो क्यों ?

मेरा कहना ही था कि, भाभी की आँखों से आँसू मानो थम-से गए। वह हँसती हुई बोल उठीं—नहीं, सुशील, मैं सिसक रही थी कहाँ ? मैं तो सोच रही थी कि भला करते··········।

नहीं, भाभी, बोलने दो उन्हें ! वे तो थोड़ी-थोड़ी सी बातों पर बिगड़ उठती हैं। ऐसा आदमा तो कहीं नहीं देखा !

छोटी भाभी कुछ बोलना ही चाहती थी कि, इसी समय बड़ी

भाभी ने मुझे अपने पास बुलाया। मैं घबराया-सा जा रहा था, जिस तरह अभियुक्त न्यायाध्यक्ष के पास जाता है। सचमुच मेरी छाती धड़क रही थी।

मैं उनके पास जाकर खड़ा रहा। भैया कुर्सी पर बैठे थे। थे। सामने टेबुल पर लैंप जल रहा था। बड़ी भाभी उनकी दूसरी ओर खड़ी थीं। मुझे कुछ बोलने का साहस न हो रहा था।

भैया ने मुझे अपने सामने खड़ा देखकर कुछ रुखाई से कहा—इस तरह मंत्रणा करने से काम न चलेगा, सुशील। कल से घर पर मास्टर साहब आया करेंगे। तुम्हें उनके सामने बैठकर पढ़ना होगा। इस तरह धमाचौकड़ी मचाने से काम न चलेगा। समझे?

"हाँ, भैया, पढ़ा करूँगा। पर······।"

"पर, क्या रे? बोलो, क्या कुछ कहा चाहते हो?"

"मैं तो धमाचौकड़ी नहीं मचाता, भैया! भाभी ने आपसे यह झूठ ही कहा है।"

भाभी इतने ही में आग हो गईं—बोलीं—यह देखो, मैं ही झूठी साबित न हुई। इस घर का बचा-बच्चा भी मुझे झूठो कहने का साहस करने लगा। हाय रे कपाळ!

भाभी ने यह रामवाण छोड़ा था—भैया के हृदय को छेदकर वह पार कर गया। वह बिगड़कर बोल उठे—क्या कहता है? यह झूठ ही कह रही है?

"मैं उधम नहीं मचाता, भैया।"

भैया डाँटकर बोले—देखो, इस तरह काम न चलेगा। तुम

फिर से उत्पात मचाओगे तो मैं कान ऐंठकर तुम्हें बाहर की हवा खिलाऊँगा।"

इतने ही में चाची ने मुझे बुलाया। जान में जान आई। भैया भी मुझे रोक न सके। मैं वहाँ से जान लेकर भागा! पर, हृदय में धड़कन रह ही गई।

चाची मुझे खाने को बुला रही थीं। मैं रात के ७-८ बजे तक खा लिया करता। चाची मुझे अपने हाथों खिलातीं। मैं उनके स्नेह को पाकर सारी बातें भूल गया। खाने के बाद मैं बिछावन पर सो रहा। रात को नींद टूटी तब जब चाची मेरे पैरों में तेल मलकर मीठे-मीठे दबा रही थीं।

४

कई वर्ष निकल गए।

बड़े भैया ने मेरी काफी देख-भाल की। उनकी एकांत मंगल-कामना के बल पर ही मैं कुछ पढ़-लिख सका। यद्यपि बचपन में भैया की निष्ठुरता—क्रूरता—मुझे अखरती रही अवश्य, फिर भी आगत भविष्य मुझे अवश्य सुखमय जान पड़ता था। पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर रखे गए। उधर स्कूल के मास्टरों के साथ भैया की खासी मैत्री थी। मैं कुछ ही वर्ष में मिडिल की कक्षा में पढ़ने लग गया।

पढ़ने के समय पढ़ता अवश्य था, पर खेलने और ऊधम मचाने

में मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। छुट्टी के दिनों, मैं कभी-कभी घर के मास्टर साहब को बातों में भुला देता। वे भी बड़े सीधे-सादे जीव थे। मेरे घपले में आखिर आ ही जाते। एक दिन की बात है। उफ़ उसे क्या आजीवन भूल सकूँगा मैं? गर्मी की छुट्टियाँ थीं। पाठशाला तो बंद हो गई थी, केवल मास्टर साहब ही घर पर पढ़ाने को आया करते। मेरा मन खेलने में रम गया था। अपने साथियों को छोड़कर पढ़ने में मैं स्वतंत्रता का अपमान समझता था। इसीलिए, मैंने मास्टर साहब के आने के कुछ पहले ही से ऐसी रोनी सूरत बना ली थी कि, उन्होंने आने के साथ ही मुझसे पूछा—आज इतने उदास क्यों दीख रहे हो, सुशील ?

"नहीं, मास्टर साहब ! कुछ तो नही।"—मैंने जरा मुस्किराते हुए कहा।

"नहीं-नहीं जी, दाल में अवश्य कुछ काला है। बात क्या है? कहो!"

खिलवाड़ी मैं अवश्य था, पर परमात्मा की कृपा से झूठ बोलने की आदत न पड़ी थी। अंतरात्मा तो अवश्य कहती थी—झूठ मत बोलो, फिर भी मैं खेलने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। आखिर, नौ-छौ करते हुए कहो दिया—सिर मे भारी दर्द है, मास्टर साहब ! आज यदि आज्ञा हो तो······।

बात खतम भी न होने पाई थी कि उन्होंने कहा—अच्छा, जाओ, लेट रहो। देखना, दौड़-धूप न मचाना।········अच्छा, मैं चला !

मैंने खड़े होकर मास्टर साहब को प्रणाम किया। वे आशीर्वाद देकर चल पड़े।

मैं भीतर की ओर चल पड़ा अवश्य, पर दहलीज के पास जाकर मास्टर साहब का चलना देखता रहा। जब वे आँखों से ओझल हो गए तब मैं भी बाहर अपने साथी के घर चल पड़ा।

तीन बज रहे होंगे। उस समय मेरा साथी किसुन अपने कमरे में भंग घोट रहा था। उसकी आदत थी! वह कभी-कभी आँखें बचाकर भंग पी लिया करता। कभी-कभी तो वह पकड़ा भी जाता। पर, इकलौता लड़का होने के कारण माँ उसे क्षमा कर देती। उस दिन तो माँ घर पर थी भी नहीं; इसलिए उसे पूरी स्वतंत्रता मिल गई थी। उस दिन मुझे पाकर वह बड़ा खुश हुआ। उसने मुझे देखते ही बड़े तपाक से कहा—अच्छे आए, सुशील! कहो, भंग छनेगी न!

मैंने अपने नन्हें से जीवन में एकाध बार ही—वह भी उसीके अनुरोध से, उसीकी संगति में पड़कर भंग अवश्य पी थी। इसलिए, उस दिन भी मैंने हामी भर दी। मैंने कहा—भई, नेकी भी और पूछ-पूछकर!

उस दिन उसने बड़े प्रेम से भंग बनाई थी। दूध डाला, चीनी डाली और न जाने क्या-क्या मसाले डाले—मुझे क्या पता था! मैंने बात-की-बात में एक डबल ग्लास भंग चढ़ा ही तो ली! उसने तो पूरे दो ग्लास गटक लिए। बड़ी हँसी-खुशी रही। ऊपर से नास्ता भी मिला। अच्छी यात्रा बनाकर चला था मैं! खूब आनंद

रहा। उसके बाद किसुन ने मुझसे कहा—अच्छा, सुशील, चलो, अब जरा सैर-सपाटा किया जाय।

मैं भी यही चाहता था। हम दोनों गाँव के बाहर निकल पड़े। हरे-हरे खेत बड़े मनोमोहक थे। फागुन का दिन था। मटर-चने फल रहे थे। हम दोनों एक खेत में जाकर बैठ गए और लगे एक-एक कर दाने छुड़ा-छुड़ा चट करने! खूब जी-भर कर खाया! मुझे नई चीज सदा से भाती रही है। गप्पें चल रही थीं और इधर धुन में मस्त हो दाने चुग रहा था। इसी समय पीछे से खेत जोतनेवाली लड़की न जाने कहाँ से, आ धमकी। कोई ग्यारह-बारह की होगी। भोला-भाला मुखड़ा; उज्ज्वल स्निग्ध आम की फाँक-जैसी बड़ी-बड़ी आँखें; बड़ी घनी बरुणियाँ—गजब की सूरत! उसके खेत को हमलोग उजाड़ रहे थे! वह गरीब थी। वही उसका आसरा था—पसीने की कमाई थी—बोली—यह मुझे अच्छा नहीं लगता! खेत क्यों उजाड़ रहे हैं?

किसुन ने हँसकर कहा—वाह जी, हमीं दोनो जने से खेत उजड़ जायगा?

"उजड़ नहीं जायगा तो दाने निकल आएँगे? हम गरीबों की तो यही रोटी है!"—उसने जरा व्यंग कसते हुए कहा।

मुझे तो उसकी बात सुनकर दया हो आई। मैंने किसुन से कहा—चल, भई, चल! क्यों इसे दिक करते हो? चलो कुछ दूर पर अपने ही खेत हैं—चलो, चल चलें।

किसुन बड़ा उजड्ड स्वभाव का था। उसे कुछ चिढ़-सी हो

आई। इसलिए वह झपटकर बोला—क्यों जी सुशील, योंही चले जाएँगे? देखो तो भला इसका नाज-नखरा!

वह बोलकर हँस पड़ा।

वह लड़की गरीब और सीधी थी तो अवश्य, किंतु, उसके चोचले समझने में अवश्य ही चतुर थी। वह कुछ रोष से, भवें तानकर बोल उठी—मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। मेरा खेत भी उजाड़ो और ····· ·····।

रोष से, मैंने देखा, उसका मुँह तमतमा उठा।

किसुन चुप रहनेवाला जीव न था! वह बोल उठा—अजी, बिगड़ती क्यों हो! खेत उजाड़ता हूँ तो लो टके भर देता हूँ! पर, तुम्हें छोड़कर तो जाने की तबीयत ही नहीं चाहती!

इतना कहकर उसने कमर से एक रुपया निकालकर कहा—लो, मैं हर्जाने में एक रुपया दिए देता हूँ। और—और लेना चाहती हो मेरे घर पर रात को ·········।

बात उसके मुँह में ही रह गई। वह बिगड़कर बोली—बड़े रुपएवाले बने हैं? मैं गरीब हूँ सही, पर टके पर अपने धरम को नहीं बेचा करती। क्या बड़े आदमी पराई बहू-बेटियों को रुपए पर ही भुलाया करते हैं?

वह और कुछ बोलना चाहती थी कि मैं बोल उठा—तुम इसका मतलब क्या समझ गई? इसने तो रुपया इसलिए फेंक दिया कि, अपना हर्जाना आप भर लो। तुम क्या समझ बैठी!

रहने दो अपना मतलब!"—वह बिगड़कर बोल उठी"

समझते हो कि मैं कुछ समझी ही नहीं मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ तो इतना मैं समझ ही नहीं सकती। क्या पढ़े-लिखे ही सभी कुछ समझते हैं ?

मैं कुछ बोलने को ही था कि, किसुन बोल उठा—"नहीं, रानी तुम तो सभी-कुछ समझती हो। अच्छा, तब तो मेरी बातें समझ ही गई होगी। फिर क्या राय है ? · ··· ····

इसे सुनकर मुझे भी कम खेद न हुआ! मै मन-ही-मन समझ गया—किसुन कितने दिल का ओछा है ! पर, वहाँ उस लड़की के सामने मैं बोल ही क्या सकता था! मैं चुप ही था कि, वह लड़की रोती-रोती खेत को छोड़ अपने घर की ओर चल पड़ी। रुपया उसकी टोकरी में पड़ा ही रह गया। उसमें कुछ चने और मटर की फलियाँ थीं, वह भी अपने साथ ही लेती गई।

किसुन ने उसके चले जाने पर कहा—कहो, सुशील कितनी सुंदर है ! कैसी है उसकी बाँकी अदा ! रूठना-मचलना !

"क्या कहते हो छोड़ो उस बात को !"—मैंने रुखाई से कहा।

"समझता हूँ, कितने पानी में हो ! कहीं वह राजी हो जाती ? तो·· ····· ·· ?"

"छिः; क्या मुँह से निकालते हो ?"-मैंने कर्कश स्वर में कहा।

यद्यपि मैंने मुँह से तो ऐसा कह डाला, पर हृदय रह-रहकर किसी गुप्त धन को खोज रहा था। मैं नहीं कह सकता—कितनी मादकता थी उसकी आँखों में ! आह ! मेरा हृदय रह-रहकर कह रहा था—अच्छा होता, उससे दो-दो बातें करता ! उसका रूठना-

ठुमकना देखता ! मैं नीरव था, शून्य आकाश की ओर मेरी दृष्टि गड़-सी गई थी !

इतने ही में किसुन बोल उठा—समझता हूँ, कितना डूबकर पानी पीते हो ? अच्छा, तुम न सही, मैं तो कभी अवश्य···।

"क्या बक रहे हो ? कुछ आगे का भी ख्याल है ? कहीं वह जाकर घर पर आफ़त ढा दे, तब !"

मुझे उसके चले जाने पर संदेह हो रहा था। मैं समझ गया था कि उसका रोना योंही व्यर्थ न जायगा। उसने जो-कुछ कहा था—सच्चे हृदय से कहा था। उसमें छल-प्रपंच वा लोभ की बू तक न थी।

मेरी बातें कुछ किसुन के दिल में भी जँचीं। संध्या हो आई थी। मेरा सिर चकरा रहा था, गला सूख रहा था। नशा जोरों का चढ़ता जा रहा था।

दोनों चल पड़े; साथ ही घर आए। वह अपने घर गया और मैं भी अपने घर आया। दहलीज पर, न जाने कब से, मेरी छोटी भाभी—ज्योतिमयी—खड़ी थीं। कैसी उदार थीं वह ! वह देखते ही बोल उठीं—जनाब ! आप आज कहाँ गए थे ?

मैंने हँसकर कहा—कहीं कहीं !

"वाह ! अच्छा कहा ! यह सफेद झूठ ! मैं तो समझती थी कि, आप पूरे देवता ही ठहरे ! पर, अब देखती हूँ—रंग बदल रहे हैं ? यह चाल ?"

"कौन-सी चाल देखी, भाभी, मुझमें !"—मेरा हृदय धड़क रहा था।

"सच-सच बतलाएँ तो कहूँ !"

"मैं क्या बताऊँ ? मैं तो किसुन के घर पर हिसाब कर रहा था !"

"क्या सच ?"

"हाँ, सच ही ? झूठ क्यों बोलूँ !"

"हाँ, सच ही !"

"हाँ-हाँ ! क्या मैं झूठ थोड़े ही कह रहा हूँ ।"

"क्या आप खेत में नहीं गए थे ? एक लड़की को रुपया नहीं दे आए हैं ? क्या उससे··········।"

मेरा मुँह फीका पड़ गया। काटो तो खून नहीं। नशा मेरा छू मंतर हो गया। बोलती मेरी बंद हो गई। आँखें शांत थीं।

"बड़े आज खूब बिगड़ रहे हैं ? जेठानी तो चाची को बड़ी भली-बुरी सुना रही थीं। सुना रही थीं—आप ही ने तो उन्हें लाड़-प्यारकर बिगाड़ दिया है। अब तो वह जरूर एक दिन किसी के घर घुसेगा ? क्या यही भले घर के लड़के का काम है कि पराई बहू-बेटियों को रुपये से फुसलाया करे।········अच्छा, सुशील बाबू, जो होना था हो ही गया। अब·········।

मैंने घबराकर उनसे कहा—भाभी, मैं पैरों पड़ता हूँ। मुझे बचाओ, भाभी ! नहीं तो भैया मुझे जान लेकर ही छोड़ेंगे ! भाभी ··········।

"अच्छा, देखूँगी। कोई चिंता की बात नहीं। चलो-चलें—मैं लिए चलती हूँ।"

"मैं नहीं चलूँगा, भाभी ! मैंने तो उसे कुछ नहीं कहा था और

न मैंने ही उसे रुपया दिया। रुपया तो उसी ने फेंका है। मैं रुपया कहाँ पाता !"

"तब तो और डरने की कोई बात ही नहीं। चलो चलें।"

"नहीं, भाभी, भैया मुझे जरूर पीटेंगे।"

मेरी आँखों में आँसू छलछला आए।

नहीं पीटने दूँगी मैं ! चाची से मैं सारी बातें कह देती हूँ। वे कभी तुम्हें पीटने न देंगी। आखिर, वे (भैया) तुम्हें पीटने को तैयार ही हो जायँगे तो मैं उस समय बीच में आ पड़ूँगी। चलो अब ! क्या मुझपर भी विश्वास नहीं है ?"

छोटी भाभी मुझे अपने साथ ही भीतर लिवा लाईं। बरंडे पर ही बड़ी भाभी लल्ला को खेला रही थीं। मुझे देखते ही वह व्यंग के स्वर में बोल उठीं—आ गए मेरे घर के करम ! देखने में अभी कितना सूधा जान पड़ता है मानो कुछ जानता ही न हो ! आज न ···।

बीच ही में छोटी भाभी बोल उठीं—डराने से क्या होगा ? दीदी ! लड़का ही ठहरे ! गलती किससे नहीं होती। फिर इन्होंने रुपया दिया नहीं है ! रुपया देनेवाला तो किसुन है।

"तुम्हे वकालत करने से लाभ ! माना कि रुपया इनका दिया हुआ नहीं है, फिर भी चोरी में साझीदार तो जरूर है। फिर जो चोर की हालत, वही साझीदार की हालत ! ऐसा भी कहीं आदमी होता है ? देखने को बच्चा, मगर काम कैसा लुच्चों का।

"लुच्चा-फुच्चा कहकर क्यों दुखाती हैं, दीदी ! भूल किससे नहीं होती।"

और वह मुझे अपने साथ अपने कमरे में ले गई ! बड़ी भाभी, न जाने क्या-क्या बोलती रह गई । उस समय मालूम पड़ता था—मौत ही हो जाती तो कितना अच्छा होता ! समझ लिया था—बुरी संगति में जाने का फल मिले बिना कभी रही नहीं सकता !

भाभी ने जलपान करने को दिया, पर मैं क्यों खाने लगा ? भाभी ने कितना निहोरा किया, पर सभी व्यर्थ ! मेरे गले के नीचे ग्रास जाता ही नहीं था । इसी समय मैंने भैया के जूते की चर्र-मर्र सुनी । आह ! वह कितना भयंकर समय था मेरे लिए । मैं भाभी की बिछावन पर वहीं लेट रहा । पर, हृदय की धड़कन शांत न हुई । प्रलयंकर भविष्य आँखों पर झूम रहा था । भंग के नशे से मेरा सिर अलग चकरा रहा था । मैं सचमुच अपने आपे में न था ।

भैया के घर आते ही बड़ी भाभी ने न जाने क्या-क्या कह डाला—पता नहीं । पर, कुछ ही क्षण के बाद सुना—भैया पुकार रहे थे—सुशील ! ओ सुशील !!

मैं नींद लाने का उपक्रम कर रहा था, पर नींद आवे तो कहाँ से ? न उठते ही बनता था और न बैठते ही । आखिर, भैया मेरे कमरे के पास ही खड़े हो डपटकर बोले—निकलता है कि नहीं ? बाहर आओ ।

मैं सकपकाए हुए बाहर आ रहा था । छोटी भाभी उसी समय दौड़ पड़ीं फुलवारी की ओर । इधर भैया केसामने मैं मुजरिम-सा खड़ा हो गया । मालूम पड़ता था—मेरी आँखों के आँसू तक सूख

गए हैं। भैया ने डपटकर कहा—मैं क्या सुन रहा हूं, बदमाश! बोलो—क्या सच है?

मैं निरुत्तर था।

"बोलता है कि नहीं? या जूते निकालूँ?"

फिर भी मुझसे, यत्न करने पर भी बोला न गया।

"बोलते हो या जूते से बुलवाऊँ?"

इतना कहकर भैया मेरे दोनों हाथों को पकड़ लगे बरसाने तड़ातड़ तमाचे! पर, ईश्वर को धन्यवाद है। दो-तीन ही लगने पाए थे कि चाची अपनी पूजा छोड़कर आईं और भैया के हाथ पकड़कर बोलीं—क्या जान ही ले लोगे? जरा बात भी समझोगे या अपनी आँख ही फोड़ोगे? मारने-पीटने से कोई सुधर भी सकता है?

भैया थमक गए; पर, चाची पर बिगड़कर बोले—तुमने ही तो इसे सोख बना छोड़ा है। आज तो यही सुन रहा हूँ। कल उसके हाथ सारी आबरू हवा हो जायगी।

"अच्छा, रहने दो! देखा जायगा! मारकर उतना काम नहीं निकलता जितना चुमकारकर—प्यार से!

अच्छा, खूब प्यार कर लो! कल सिर चढ़ेगा! कहे रखता हूँ।

भैया रोष के मारे अधिक कुछ न कहकर बड़बड़ाते हुए बाहर चले गए।

चाची प्यार से मेरे गाल सुहलाने लगीं। मैं पुक्का फाड़-फाड़कर रोने लगा। उस दिन चाची लाख मनाती रहीं, पर मुझसे

खाया न गया। मैं बिछावन पर आ लेटा। चाची भी मेरे साथ ही आकर लेट रहीं। उस दिन वे भी न खा-पी सकीं। शायद छोटी भाभी को भी मेरी दशा देखकर कम चोट न पड़ी होगी।

५

दूसरे दिन भैया का नादिरशाही हुक्म निकला—इसे अब गाँव के स्कूल में न रखूँगा। इसे पटना जाना होगा। वहीं यह रहे। माँ के लाड़-प्यार से यह नहीं पढ़ सकता।

चाची ने शहर के दोष-गुण को बहुत समझाया, पर भैया ने एक न सुना। चाची अपनी आँखों से दूर मुझे न जाने देना चाहती थीं। फिर भी भैया और बड़ी भाभी के तर्क के सामने उनकी एक न चली। वे कर ही क्या सकती थीं। अंत में यही निश्चय हुआ कि, दस दिन के बाद स्कूल खुलने पर मुझे वहीं जाना होगा। उधर मँझले और छोटे भैया को लिख दिया—अपने होस्टल मे एक स्थान रिजर्व करा रखो। सुशील वहीं भेजा जा रहा है। चाची भी यह जानकर चुप हो रहीं कि, वहाँ भी तो दो-दो भाई हैं ही। उन लोगों की देख-रेख में इसे कुछ कष्ट न होगा। फल-स्वरूप, चाची को, इच्छा के विरुद्ध, मुझे बाहर भेजने में अपनी सम्मति देनी ही पड़ी।

मुझे एक ओर प्रसन्नता थी यह जानकर कि, शहर में रहूँगा, खूब ठाट-बाट से! खूब देखने को मिलेगा। दूसरी ओर चाची

और छोटी भाभी के बिछुड़ने का भी कम दुख न था ! मँझली भाभी इन दिनों नैहर चली गई थीं। उनका भी स्नेह मुझ पर कुछ कम न था। समझता था कि ऐसा स्नेह मुझे फिर कहाँ मिलेगा ? पर, दंड था यह मेरे अपने कर्त्तव्य का जिसके सामने चाचो को भी परास्त होना पड़ा। जाने के एक दिन पहले मुझे याद पड़ा कि, किसुन ने मुझे कहीं का न रखा। उसी के चलते मेरी मिट्टी पलीद हुई है। मैं कभी भी उसका साथ न करूँगा। पर, यह संकल्प मेरा अचल न रह सका। दूसरे ही क्षण विचार उठा—चाहे जो हो, फिर भी तो वह मेरा बचपन का सखा ही है। फिर कब मिल सकूँगा—कौन जानता है। न जाने भैया फिर कभी घर आने की अनुमति देंगे वा नहीं। अब क्या है ? जब मैं घर से बाहर ही किया जा रहा हूँ तो दूसरे को फिर इसमें संदेह ही क्यों होने लगा !

दस दिन के बाद मैं किसुन से मिला। वह टेबुल के पास कुर्सी पर बैठकर अंक कस रहा था। मैं उसी समय हाजिर हुआ। वह मुझे देखते ही जोर का ठहाका मारकर हँस पड़ा और बोल उठा—क्या है सुशील ! किधर को भूल पड़े ! कहो उस दिन की बात ! फिर मटर की फलियाँ खाने को न निकलोगे ?

मेरे मन में आया कि, इसे मैं फटकार दूँ और खूब भला-बुरा कह सुनाऊँ ! पर, मैंने उससे केवल इतना ही कहा—क्या कहते हो, किसुन ? तुम्हारे ही चलते तो मेरा यह निर्वासन हो रहा है !

निर्वासन ?"—किसुन ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा। पर उसके ओठ पर मुस्किराहट थी।

"हाँ, शायद सदा के लिए।"—उत्तर में कहा।

"कहाँ जा रहे हो?"

"भैया मुझे पटना भेज रहे हैं। अब मैं वहीं पढ़ूँगा।"

"ऐसी बात?"—इतना कहकर वह बड़ी देर तक चुप हो रहा। मालूम पड़ता था, वियोग-व्यथा से वह भीतर-ही-भीतर व्यथित हो रहा है। शायद यह भी सोच रहा हो कि मेरे ही चलते उसका यह निर्वासन हो रहा है।

मैंने मौन भंग करते हुए कहा—हाँ, भाई, दुख है कि, मैं अब तुमसे न मिल सकूँगा।

अच्छा, सुशील, जाओ। तुम एक साथी थे, छोड़कर जा ही रहे हो। पर ·····।

"पर क्या, किसुन!"

"मैं इसका प्रतिशोध लिए बिना न रहूँगा।"

"प्रतिशोध? किससे भाई?"

"जिसके चलते मैंने बेंत खाई। तुम निर्वासित हुए।"

"आह! उस गरीबन से प्रतिशोध। ऐसा न कहो, किसुन! उस बेचारी का क्या दोष था?"

"दोष? उस सूअर की बच्ची ने न जाने क्या बुरी-भली आकर कही। हरामजादी... .....।"

"नहीं! रोष क्यों कर रहे हो, किसुन! दोष तो हमलोगों का था। हमलोग बात-की-बात में कितना आगे बढ़ रहे थे कुछ ख्याल है?"

"अजी, क्या कहते हो ? रुपए के लोभ पर तो वह क्या नहीं कर सकती है ? चली है मेरे सामने बड़ी सती बनने ।"

"आखिर, गरीब भी तो आदमी ही है !"

"रहने दो आदमी की बात ! मैं तुम्हें दिखा दूँगा सुशील, कि, लोग कितने पानी में हैं । फिर वह तो ना-चीज औरत ठहरी । वह भी गरीब मजदूर की लड़की ।"

"नहीं किसुन ! उसका रत्ती-भर भी दोष न था । उस पर बिगड़ना तुम्हारी नादानी है । यद्यपि मुझे भी रोष आता है कि, उसने भंडा फोड़कर अच्छा नहीं किया, तो भी मैं उसकी हृदय से प्रशंसा करता हूँ । लोग शत्रु की भी प्रशंसा करते हैं यदि उसमें कोई प्रशंसा की बात हो ?"

"किया करो तुम ! उस दिन उसने तो अपनी इमानदारी दिखलाई, रुपया भी घर में मेरी माँ को दे गई । इससे क्या, मैं उसे दूध की धोई थोड़े ही कह सकता हूँ । मैं तुम्हें दिखला दूँगा—वह मेरा चरण चूमेगी । मैं अपनी वासना की खिलौना बनाऊँगा । यही मेरा प्रतिशोध है । यही मेरी प्रतिज्ञा है ।"

"तुम भूल करते हो, किसुन । ऐसी प्रतिज्ञा किस काम की ? अच्छा, अब मुझे बिदा दो फिर न कहीं मुझपर कोई आफत आ जाय । पर, मैं इतना अवश्य कहे जाता हूँ कि, तुम किसी को कष्ट-दायक न हो । आखिर, अपनी विवेक-शीलता से भी तो काम लेना चाहिए ।"

"रहने दो अपनी विवेक-शीलता अपने पास !"—

मैं चल पड़ा था। दर्वाजे से बाहर आने पर उसके मुँह से केवल इतना ही सुन सका।

दूसरे दिन प्रातःकाल भैया भी तैयार हो चुके। दर्वाजे पर गाड़ी तैयार थी। उसी समय गाड़ीवान ने आकर कहा—बाबूजी, चलिए। देर करने से शायद गाड़ी न मिल सकेगी ?

भैया कपड़े पहनकर तैयार थे। मैं चाची के कमरे में तैयार हो रहा था। चाची मुझे समझा रही थीं—देखना, बेटा, कहीं ऐसा काम न कर बैठना जिससे नाम में कोई कलंक लगे! घबराना मत! वहाँ तो तुम्हारे भाई हैं ही, जो कुछ जरूरत हो, उनसे कहना! जाओ, तीनों भैया मिलजुलकर रहना। लो यह नोट! जेब में अच्छी तरह रख लो! जब तुम्हें जरूरत हो—काम में लाना।

मैं फूट-फूटकर रो पड़ा। चाची भी रो-रोकर मुझे समझाने लगीं। इधर गाड़ीवान हल्ला मचा रहा था। जाने के समय चाची को प्रणाम किया। बड़ी भाभी को प्रणाम किया। चाची ने गृह-देवता को प्रणाम करवाया। और सबके अंत में मैं छोटी भाभी को प्रणाम करने के लिए उनके कमरे में गया। उन्होंने मुझे गले से लगाया और केवल इतना ही कहा—कभी-कभी पत्र लिखकर सुखी करते रहिएगा, सुशील बाबू! .... यह चिट्ठी लेते जाइए। अपने छोटे भाई को दे दीजिएगा। मैंने चिट्ठी जेब में रख ली। फिर एक बार भाभी को प्रणाम कर चल पड़ा।

बाहर गाड़ी पर भैया सवार थे, मैं भी आकर बैठ गया।

चाची कुछ दूर तक गाड़ी के पीछे-पीछे आईं। गाड़ी के सड़क पर मुड़ने के समय देखा—घर के बगल से छोटी भाभी तृषित नेत्रों से एकटक मेरी ओर निहार रही हैं! आह! कितनी करुणा थी उनकी सदय दृष्टि में! कितना छलकता स्नेह था उनका?

६

मेरा प्रवास-जीवन प्रारंभ हुआ। मैंने इसके पहले घर से एक कदम तक न आगे बढ़ाया था, पर मैं अब घर से दूर—शहर में—आ पहुँचा और अब से मेरा नागरिक जीवन व्यतीत होने लगा। सुरेश और जगदीश भैया के साथ मेरे जीवन का यह खूब आनंद से कटा। जगदीश भैया तो कुछ ज्यादा ठहर न सके—कुछ ही दिनों में उनकी परीक्षा समाप्त हुई। इन्हें परिभ्रमण से बड़ा शौक़ था और उन्हें परीक्षा के बाद यही सुयोग मिला था। इसलिए, अपने कुछ मित्रों के साथ स्वदेश-भ्रमण के विचार से उन्होंने यात्रा कर दी। उनके जाने के समय मुझे बड़ा खेद हुआ, पर दूसरा उपाय ही क्या था! हाँ, मैं छोटे भया के साथ रहकर उनके वियोग-जन्य दुख को दूर करने में समर्थ हो सका।

चार-पाँच महीने तक डेरे पर पढ़ने के बाद मेरा नाम सातवीं श्रेणी में लिखाया गया। मैं ठीक समय पर स्कूल जाता, मनोयोग-पूर्वक पढ़ता और छुट्टी होने पर सीधे डेरे पर पहुँचता। वहाँ भैया के साथ जलपान करता और कुछ इधर-उधर। इसके बाद एकाध

घंटे। तक ड्राइंग बुक लेकर निश्चिन्त हो चित्र खींचता। क्योंकि इसकी ओर मेरी स्वाभाविक रुचि थी। इसके बाद खेलने को बाहर निकल पड़ता। पास ही फुटबॉल का हाता था। वहीं अपनी C. Team में गेंद खेला करता। खेल खतम होते-न-होते भैया वहाँ आ जाते, मैं उनके साथ हो लेता, फिर शहर की ओर और कभी गंगा के किनारे, जहाँ जब जी उनका चाहता मुझे भी लिए फिरते थे। एक-डेढ़ घंटे तक सैर-सपाटा रहता। इसके बाद हम दोनों भाई अपने डेरे पर आ जाते!

रात को मैं अपना पाठ ठीक करता। इसी समय भैया भी एकाध घंटे तक मेरी मदद कर देते। बात यह थी कि मैं क्लास में अभी तक कमजोर था। कारण यह था कि, मेरा नाम बड़ी सिफारिश से लिखाया गया था। इसीलिए, भैया को ही मुझसे अधिक परिश्रम करना पड़ता।

यह सिलसिला बहुत दिनों तक जारी रहा। भैया बहुत कम छुट्टियों में घर जाया करते। इसीलिए मुझे भी इच्छा रहते हुए बहुत कम घर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो यही दिल चाहता था कि, कब शहर से घर जाएँ! पर, भैया का सहज सरस स्नेह बरबस मुझे उनके साथ रहने को बाध्य कर ही देता। फिर भी मैं कभी छोटी भाभी को हृदय से भुलाने में कृतकार्य न हो सका।

हँसते-खेलते दो वर्ष बीत गए। इसी समय मैं नवें दर्जे में गया और छोटे भैया बी० एस० सी० पास कर गए। अब उनकी इच्छा हुई डाक्टरी पढ़ने की; पर पटने में उस समय मेडिकल

कालिज का प्रभाव था। इसलिए उन्हें कलकत्ता मेडिकल कालिज में नाम लिखाना पड़ा। भैया बाध्य हुए वहाँ जाने को। अब रह गया मेरा रहने का प्रश्न! छोटे भैया चाहते तो अवश्य थे कि मैं भी उन्हीं के साथ वहीं चल चलूँ! पर, बड़े भैया की सम्मति इसके प्रतिकूल थी! उन्होंने कहा था—कलकत्ता की आब-हवा सुशील को सह्य न हो सकेगी। इसलिए वह पटने के किसी होस्टल वा मेस में रहे। अब तो वह बच्चा भी नहीं रह गया। अपने पढ़ने की उसे हार्दिक कांक्षा भी है फल-स्वरूप, मैं मिंटो होस्टल से हटकर 'मित्रालय' में चला गया।

'मित्रालय' एक मेस था जिसमें मेरे चार-पाँच सहपाठी पहले से रहा करते थे। यही कारण था कि, वहाँ सहयोग पाने के खयाल से मैं उसमें चला आया था। वहाँ रहने और खाने-पीने का अच्छा प्रबंध था। इच्छानुकूल भोजन मिल जाता था फिर मित्र-मंडली के सहवास का आनंद अलग। पढ़ने की लगन थी, दिल में हौसला था, उमंगें थीं। फिर क्या? वह जीवन बड़ा ही सुखमय रहा। एक वर्ष इसी तरह हँसते-खेलते हाथ से निकल गया। हम लोग-सब-के-सब खुशी-खुशी पास कर Pre-matric clas में आ गए। हाँ, सचमुच बड़ा आनंद रहा।

पर, हाय री नियति! मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ। 'मेरे मन कछु और है विधना के कछु और!' यह बात प्रायः देखी जाती है। मनचाही बातें सर्वदा होती कम हैं। ठीक यही बात मेरे जीवन में भी आकर घटित हुई। जहाँ एक ओर मेरे

आनंद-उन्माद का ठिकाना न था, वहीं दूसरी ओर विस्मय-विषाद का विकराल रूप आँखों के सामने दृष्टिगत हुआ। जीवन की धारा दूसरे रूप में परिवर्त्तित हो चली।

कारण क्या था—वह या तो भगवान् ही जाने अथवा मेरे भाग्य-निर्मायक मेरे बड़े भैया! मैं तो अब तक भी कारण का पता न पा सका। पर इतना तो अवश्य कहूँगा कि, जिस दिन से छोटे भैया ने मेरा हाथ छोड़ा, उसी दिन से मेरे दुर्भाग्य का प्रारंभ हो चला। पहले तो समय पर खर्च के लिए रुपए आ जाते, पर पीछे देखा, रुपए के लिए बार-बार लिखना पड़ता, तब कहीं रुपए के दर्शन होते। और, इसके बाद, इस वर्ष, जब कि, मैं दसवें दर्जा में पहुँच चुका था, एक-दो महीने के बाद रुपए का तकाजा करने पर भी रुपये नहीं मिलते। इधर नई पुस्तकें भी खरीदनी थीं, उधर मेस का पावना कई महीने के चुकाने थे। हाथ में जेब खर्च के लिए एक पाई तक न थी। कुछ दिनों तक तो मैं अपने मित्रों से उधार लेकर काम चलाता रहा। पर, रुपए-पैसे के संबंध में कौन कबतक साथ देता रहता है!—वह भी विद्यार्थी-जीवन में। मैंने एक दिन 'मेस'-मैनेजर की झिड़कियाँ खाने और ठीक उसी दिन स्कूल में पुस्तकें न लेजाने के कारण बेंच पर खड़े कराए जाने के क्षोभ से संतप्त होकर भैया को एक और अंतिम पत्र लिखा। उसमें लिखा था—यदि आपको मुझे पढ़ाने की आवश्यकता प्रतीत न हो तो लिखें, मैं आपके आदेश का ही पालन करूँगा। व्यर्थ में आपको कष्ट देकर अपना लाभ उठाना

नहीं चाहता। आदि-आदि······। उसके उत्तर में, देखा, एक ही सप्ताह में अपने पत्र में लिखा था—

"तुमने मुझे नाकों दम कर दिया है। मैं तुमसे तंग हूँ। इस समय मेडिकल कालिज में इतना खर्च हो रहा है कि, मैं उसीके मारे परेशान हो रहा हूँ। ऊपर से तुम्हारा शाही खर्च अलग! यह खर्च मुझसे चल न सकेगा मैं अंततः दस रुपए मासिक तुम्हें सहायता कर सकता हूँ। यदि इतने से काम चला सको तो, पढ़ो। नहीं तो जैसा उचित समझो—करो। इति .।"

मैं उक्त पत्र को पढ़कर दंग रह गया। मानों मेरे पैरों तले से जमीन खिसक गई। मैं उसी चिंता में दिन-भर पड़ा रहा। अंत में मैंने साइकिल हाथ में उठाई और धोती लेकर गंगा की ओर चल दिया। मन में चिंता-ग्लानि और खेद की एक ही बार चढ़ाई हो चुकी थी। मैं इस युद्ध में सफल-प्रयत्न न हो सका। आखिर, मेरी हार रही। दिल चाहता था—चलो, गंगा में डूब मरूँ। और शायद इसी विचार से आज गंगा-स्नान को इच्छा प्रबल हो उठी थी। मैं साइकिल पर चढ़ा और विक्षिप्त-सा दाएँ-बाँए करते हुए बीच सड़क पर जाकर साइकल जोर से छोड़ दी। मैंने 'रस' में गाड़ी छोड़ी थी, इधर मस्तिष्क में तूफान मचा था। मैं सचमुच पागल हो चुका था। आखिर, एक मोड़ पर अघटनीय घटना घट ही गई। बात यह हुई कि, उधर से मोड़ पर एक मोटर मुड़ रही थी। वह सड़क पर आना ही चाहती थी कि, इतने में मैंने उनके 'हार्न' की जरा भी पर्वा न कर उसी मोड़ पर अपनी साइकिल घुमा दी।

हठात् मोटर उससे टकरा गई। मैं अपने को सँभाल न सका। साइकिल उलट पड़ी। मैं गिर पड़ा। और, आह, देखते-न-देखते मोटर मेरे एक पाँव पर से पार कर गई। यह घटना इतनी जल्दी हुई कि, किसी को कुछ पता न चला—शायद एक-दो सेकंड में। मैं तो मूर्छित हो चुका था और सुनता हूँ, मेरे दम का भी किसी को पता न चल रहा था। जो हो, होश आने पर, दूसरे दिन देखा—मैं एक अस्पताल में हूँ और मेरे सामने एक द्वादश-वर्षीया बालिका कुर्सी पर उदास हो बैठी है।

मैं कुछ होश आने पर बोल उठा—आह! मैं कहाँ हूँ, कहाँ हूँ विजय। विजय मेरा अंतरंग मित्र था। पर, वह आज वहाँ कहाँ था? उत्तर मे सुन पड़ा—आप अस्पताल में हैं। यहाँ 'विजय' नामक कोई सज्जन नहीं हैं? मैं··· ···।

"कौन आप?"—मैंने उनकी ओर देखते हुए कहा।

देखा—वह कुंठिता हो रही है। क्षण-भर के बाद वह बोल उठी—मैं हूँ—राय हरेन्द्रनाथ की कन्या।

"आप!—आप यहाँ कैसे?"—मैं बड़ी कठिनाई से बोल सका। मैं वेदना से मम्मोहित हो रहा था।

उन्होंने कहा—कल आप मेरी मोटर से दब गए थे। इसलिए···।

मैंने देखा—वह आगे और कुछ न कह सकीं।

उनकी आँखें आँसुओं से छलछला रही थीं। उन्होंने अपने आँसुओं को छिपाने के लिए अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया था।

इसी समय डाक्टर और दो 'नर्स' ने मेरे कमरे में प्रवेश

किया। वह उठ खड़ी हुई। डाक्टर ने उनसे कहा—तुम घर जा सकती हो—जाओ। इनके लिए ये दो हैं। घबराने की बात नहीं। बहुत शीघ्र अच्छे हो जायँगे।

इसके बाद यंत्र लगाकर उन्होंने मेरी छाती देखी और कुछ देर के बाद आशा बँधाते हुए वे बोल उठे—अब danger जाता रहा। कल यदि दो मिनट पहले यहाँ नहीं पहुँचाए जाते तो तुम्हारा कल ही अंत था। पर, अब अच्छे हो, चिंता की कोई बात नहीं। बेचारी उषा रानी ने तुम्हारे लिए कितना कष्ट उठाया है? आह! कल से खाना तक उसे नशीब न हुआ। बड़े घर की लड़की है सही, पर कितनी सरल, कितनी प्राणमय है! कैसी सहानुभूति है उसके सुकुमार हृदय में!

नर्स ने मेरे घाव पर फिर से पट्टी बाँधी, दवा दी। मुझे दूध पिलाया। कुछ देर के बाद मुझे नींद हो आई। मैं नीरव-निस्पंद-सा अचल-अटल स्वप्निल संसार में विचरने लगा।

७

अस्पताल में रहते हुए मुझे दो सप्ताह बीत गए, फिर भी मैं पूर्णतः स्वस्थ न हो सका। मैं बुरी तरह कुचला गया था, बाँह की हड्डियाँ टूट गई थीं, छाती और जाँघ में भयंकर आघात लगा था, कई स्थान की मांस-पेशियाँ फट गई थीं। ये दो सप्ताह मेरे लिए मौत का नजारा थे। न मुझे मरते ही बनता था और न जीते ही।

क्षण-क्षण पर बेहोशी आती, दम पलटता फिर कुछ क्षण के बाद फिर वही हालत ! डाक्टर अपने दम तक अवश्य मुझे आशा बँधाते, पर उनकी भाव-भंगी से मैं जहाँ तक अनुमान लगा सकता था कि वे निश्चय ही मेरे लिए चिंतातुर हैं। फिर भी उन्होंने काफ़ी देख-भाल की। मेरी सेवा-परिचर्य्या में जरा भी कुताही न होने दी। संयोगवश उनके सहायक भी सेवा-परायण मिल गए थे। सच तो यह है कि मैं सौभाग्यवश ही बच गया; नहीं तो आज मैं कहाँ होता—किसी को भला क्या पता !

दो सप्ताह और निकल गए।

अब मैं कुछ-कुछ स्वस्थ होने लगा था; पर अब भी घाव पूरने और हड्डियाँ जुड़ने में करीब-करीब एक-डेढ़ मास की देर थी। मैंने अपने जीवन से, उस जीवन से जिसे मैं नारकीय जीवन कहा करता था, एक प्रकार से उदासीन हो ही चुका था, ऊपर से यह अघटित घटना घटित ही हो गई। मैं बदहोशी के बाद जब कुछ स्वस्थ होता, तब रह-रहकर यही सोचा करता कि इस कुत्सित और निस्सार जीवन को लेकर करूँगा ही क्या ? मैं दूसरे के लिए विपद का कारण क्यों बना रहूँ ! इसलिए, मैं अप्रकट रूप से यही चाहता था कि मेरा प्राण-पखेरू उड़ ही जाय—यही अच्छा ! पर, मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह होता कहाँ है ? जीवन की आकांक्षाएँ यदि पूर्ण ही हुआ करें तो फिर संसार में मानव-जाति के समान और कौन सुखी हो सकता ? मैं चाहता अवश्य था कि मेरी मृत्यु हो जाय; पर, जब असह्य यंत्रणाओं से

तिलमिला उठता था, उस समय मन-ही-मन भगवान् से यही प्रार्थना करता—शीघ्र इन यंत्रणाओं से मुक्त करो मुझे, परमेश्वर! मैं अनजाने अपराध का अत्यधिक दंड पा चुका।' ....उस समय मैं जीने की आशा छोड़ मृत्यु का नाम-तक न लेता! कितना स्वार्थमय है संसार!—यह मानव-जाति! सच तो यह है कि, जीवन चाहे सुखमय हो वा दुखमय कोई भी छोड़ना पसंद नहीं करता। कारण है, इसके साथ आशा-सुंदरी की प्रच्छन्न किंतु सर्वव्यापिनी माया का अट्टहास निहित है न!

मैं मरने की आशा-आकांक्षा लेकर भी मर न सका। कारण चाहे और जो हो; पर प्रबलतम कारण था उनमें से एक बड़ा मधुमय, बड़ा सुखद किंतु, आह, बड़ा विषाक्त। इसी से मैं मर न सका। पर, विश्व की विचित्रताओं में से एक यह विचित्रता थी—एक गज़ब की पहेली! मैं इसे सुलझा न सका। अब भी सुलझाने की कोशिश करता हूँ, पर सुलझना तो दूर रहा, उलझन—जटिलताओं की कठोरतम उलझन—में ही आबद्ध होता जाता हूँ। आह! इसमें उसका स्वार्थ था वा परार्थ—कौन कह सकता है। मैंने उसके हृदय को पढ़ने की अवश्य कोशिश की थी, उसके पहचानने का प्रबल प्रयास किया था, पर, मैं उसकी तह तक पहुँच न सका। दुर्भाग्य था मेरा। फिर भी मैं इतना तो अवश्य कहूँगा—यह मोह था, ममता थी, छलावा था। आह, कितना मधुर छलावा!!

एक दिन की घटना है। डाक्टर अपने हाथों से मेरे घाव पर

मरहम-पट्टी कर रहे थे। परिचारिकाओं ने मेरे लिए जलपान की व्यवस्था कर रखी थी। पर, मैं असह्य यंत्रणाओं से निस्पंद-निश्चेष्ट हो बिछौने पर ज्यों-का-त्यों पड़ा था। सचमुच, मैं उस समय बदहोशी में था। यह दशा मेरी कब तक रही, मैं तो नहीं कह सकता; पर, जब मैंने इन यंत्रणाओं से आराम पाकर दूसरी ओर करवट बदली और अकुलाकर बोल उठा—जल, जल दो! बड़ी भयंकर प्यास!—उस समय देखा—एक स्वर्गीय बाला अपने हाथो कांच के ग्लास से मुझे दूध पिला रही है। मैं प्यास से व्याकुल था, पर दूध पीने के बाद मैंने कुछ स्वस्थ होकर आँखें खोलीं और सामने की कुर्सी पर मेरी दृष्टि दौड़ गई, देखा—साक्षात् स्वर्गीय देवी की एक सजीव प्रतिमा मेरे सामने है। मैंने उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हो आँखें बन्द कर लीं। प्रबलतम इच्छा अवश्य उसे एक बार देखने को उठी; पर, मेरी आँखें, न जाने क्यों, ऐसा दुस्साहस न कर सकीं। फिर मैं पूर्ववत् लेटा रह गया। उस समय मैं अज्ञात रूप से अनुभव कर रहा था कि, वह स्वर्गीय बाला अपने सुकुमार हाथों से पंखा झल रही है और मैं सुधा-स्निग्ध समीर के स्पर्श से स्वर्गीय सुख की सजीव कल्पना करने में सन्नद्ध हूँ। इसी बीच में निद्रा ने मुझे धर दबाया। व्यथा से प्राण हलके हो गए थे। इसलिए मैं उन सजीव कल्पनाओं के साथ स्वप्न-संसार में विचरण करने लगा।

पर, यह सुख क्षणिक था। आखिर स्वप्न-संसार असार ही तो ठहरा! नींद उचट गई, आँखें, फिरीं—फिर भी सामने वही

लावण्यमयी मूर्त्ति वही देवोपम प्रतिमा ! आँखें खुलते ही सामने से आवाज आई—कैसी तबीयत है अभी ! सुना मैंने ! आह ! कैसी सहानुभूति थी इन कुछ शब्दों में ! कितना कोमल, आह ! कैसा मधुर !

"तबीयत !—तबीयत अच्छी है; मगर········।"

मुझसे आगे और न बोला गया। इच्छा रहते हुए भी, न जाने क्यों, आत्मा मेरी बोलने से कुंचित हो रही।

"हाँ, आप क्या कहा चाहते हैं ? थोड़ा दूध दूँ ?"

"नहीं ! धन्यवाद ! क्षमा करें, देवि ! आह, आपको कितना कष्ट·········।"

वह बीच ही में बोल उठीं—मेरे कष्ट के लिए आप अधीर न हों। खेद है, मेरे चलते आप कितना कष्ट भोग रहे हैं !

कष्ट भोगता हूँ—और आपके लिए ? यह क्या कहा, देवि ! आप कौन हैं ? क्या मैं आपका परिचय पाकर ·····।"

इसबार वह बोल उठीं—बड़ी स्पष्टता के साथ, पर करुणा-पूर्ण !—"आप शायद जानते न हों ! और जानेंगे ही आप कैसे ? आप तो अचेत थे—संज्ञा-हीन-दशा में आप यहाँ पहुँचाए गए। मैं ही हूँ अभागिनी आपकी अपराधिनी। मेरे इन निठुर हाथों से ही आपकी यह दुरवस्था हुई है।"

"अहा ! आप ?"—मैंने उनकी ओर देखते हुए कहा—"आप के हाथों से मेरी यह दशा हुई है ? क्या कह रही हैं आप ? आप से भला किसी का अहित हो सकता है ?"

मैं बड़ी कठिनाई से इतना ही बोल सका। इतने ही में मैंने देखा—उसका चेहरा उदास हो गया, आँखों में वह स्निग्धता न रह गई। उसके गुलाबी गालों का रंग और गहरा हो उठा। यह क्या? क्षण ही भर में यह परिवर्तन क्यों? मैं फिर चिंता से अभिभूत हो उठा। मस्तिष्क में पीड़ा तो थी ही, फिर सोचने से वेदना असह्य हो उठी। मैं संज्ञा-शून्य हो गया। होश होने पर, शायद आध घंटे के बाद, देखा—डाक्टर सामने खड़े हैं और देवी, उसी जगह, उसी कुर्सी पर बैठी हैं। मैं अभी भी पूर्णतः होश में न था फिर भी मस्तिष्क का भार अवश्य कुछ हलका हो चला था। मैंने फिर से आँखें बन्द कर लीं।

देवी बोल उठीं—डाक्टर साहब, आप इनको अच्छी तरह देख-भाल करें। बाबूजी ने कहा है—वे आपको इसका एक बड़ा पुरस्कार देंगे।

डाक्टर साहब विकट हास्य हँसकर बोले—अच्छा पुरस्कार देंगे, मिस राय। अच्छी बात है!

"आप हँसी में इसे न टाल दें, डाक्टर साहब!"

"नहीं, मैं इसे हँसी में नहीं कहता। मेरे कहने का मतलब यह है कि, यह तो मेरी Duty ठहरी! इसके लिए पुरस्कार की कौन-सी बात है? ये तो शीघ्र अच्छे हो चले! इसके लिए चिंता की कोई बात नहीं। समझीं।"

"समझती सब-कुछ हूँ, पर, मुझसे जो यह अनजाने अपराध बन पड़ा है, उसका प्रायश्चित्त तो होना ही चाहिए!"

"सुनो, उषा, मनुष्य से अनजान-वश बहुत-सी भूलें हो ही जाती हैं। कोई दिल से अहित करना नहीं चाहता। फिर भी परिस्थितियाँ विरुद्ध आ ही पड़ती हैं। वैसी दशा में कौन किसको दोषी समझ सकता है! फिर प्रायश्चित्त की कौन सी बात है इसमें!"

मैंने देखा—उषा कुछ काल के लिए चिंता में पड़ गई। फिर कुछ-क्षण के बाद बोल उठीं—आप जो-कुछ कहे, डाक्टर साहब, कह सकते हैं। पर, मैं तो 'यही' कहूँगी कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का फल भुगतना ही पड़ता है। आप जानते हैं—मैं उसी दिन से कितना क्षुब्ध हो उठी हूँ। हृदय से शांति तो मानो उठ ही गई है। और जब तक ये अच्छे नहीं हो लेते, तब तक मैं······।

"तुम बच्चों-सी बातें करती हो, उषा! मैं तुम्हें धोखा नहीं दे सकता! तुम्हें इस तरह अधीर होकर पढ़ना-लिखना, खाना-पीना छोड़ बैठना मुझे अच्छा नहीं लगता। ज्यादा Sensetive होना अच्छा नहीं। तुम्हें पढ़ने को जाना चाहिए। हाँ, बीच-बीच में एकाध बार इन्हे देखने को आना कुछ बुरा नहीं कहा जायगा।"

"अभी मेरे लिए इससे बढ़कर और कौन काम हो सकता है, डाक्टर साहब?"

उषा के स्वर में कठोरता थी—दृढ़ता थी और था सहानुभूति और दया का संमिश्रण।

"तुम भूलती हो, उषा! मैंने यह कब कहा कि, तुम इन्हे देखना ही छोड़ दो। देख जाओ अवश्य—यह कुछ बुरा नहीं है;

पर, इस तरह अपना काम-काज छोड़-छाड़कर नहीं। नित्य और निश्चित कार्य तो होने ही चाहिएँ।"

इसके बाद दोनों नीरव थे। इसी समय घड़ी से दस बजने की आवाज आई। डाक्टर साहब ने कहा—देखो, उषा, आध घंटा शेष है तुम्हें स्कूल जाने को। मैं भी Duty से off हो रहा हूँ। चलो, मैं तुम्हें घर पर पहुँचा दूँ।

"पर, इनकी देख-रेख·········।"

"हाँ, देख-रेख के लिए Nurses आ जायँगी। "छुट्टी के बाद तो तुम आ ही जाओगी। दिन-भर बैठे रहने से लाभ क्या!"

"लाभ चाहे न हो, पर·········।"

मैंने देखा—डाक्टर बाबू हँसते हुए उषा का हाथ पकड़कर बाहर की ओर ले जाने लगे। उषा विवश थीं। पर, उठने के समय मैंने एक गंभीर आह सुनी उनकी। वह चली गईं, पर, उनका हृदय, मैं सच कहता हूँ, रो रहा था। सचमुच हाहाकार था उनके हृदय में। सच्ची वेदना थी उनके मस्तिष्क में।

इसी तरह कुछ दिन और निकल गए। उषा दिन में किसी-न-किसी समय अवश्य आतीं और कुछ काल तक मेरी सेवा-सुश्रूषा कर चली जातीं। अब मैं तकिए के सहारे कुछ देर तक बैठ भी सकता था और पहले से अब कुछ प्रसन्न भी रहा करता था। एक दिन मैं संध्या के समय निश्चिंत होकर पलँग पर लेटे आकाश की ओर देख रहा था। चंद्रमा हँस रहा था। शायद पूर्णिमा की रात थी वह! मैं इकटक आकाश के सौंदर्य को निहार रहा था।

इसी समय सामने से एक मोटर आकर मेरे बरंडे के सामने आ लगी और उसी में से बात-की-बात में उषा उतरकर मेरे सामने आकर खड़ी हो रही। पास में बैठने के लिए कुर्सी न थी। इसलिए मैं कुछ इधर-उधर कर ही रहा था कि इसी समय वह बोल उठीं—अब तो आप अच्छे हैं ?

"हाँ, अच्छा हूँ। धन्यवाद !"

"तो अब, पिता जी का विचार है—आप मेरे यहाँ ही चलकर आरोग्यलाभ करें। यहाँ आपको रहते-रहते तबीयत भी ऊब गई होगी। फिर आपकी यहाँ पर्य्याप्त सेवा ....।"

"धन्यवाद ! मैं बीच ही में बात काटकर बोल उठा, "आपकी सेवा का ही तो फल है कि मैं आरोग्य-लाभ कर सका हूँ। मैं आपके प्रस्ताव का सहर्ष समर्थन करता, किंतु ....।"

"किंतु, क्या ? कष्ट होगा आपको ?"

"कष्ट !"—मैंने हँसकर कहा, "कष्ट ही होता तो आप मुझे ले चलने की चेष्टा ही क्यों करतीं ?"

"तो, फिर आपत्ति !"

"आपत्ति तो कुछ नहीं ! मैं घर जाने को बहुत छटपटा उठा हूँ। महीनों से मैं घर नहीं गया। इसी बीच में, मेरी आकस्मिक घटना का समाचार, मेरे एक मित्र ने घर पर भेज दिया बिना मुझसे संमति लिए ही। घर से मेरे बड़े भाई आज दो बजे की ट्रेन से आ गए हैं। वे अभी आवश्यक चीजें खरीदने को बाजार गए हैं। कल मैं उनके साथ घर..........।"

"अच्छा, आप घर जा रहे हैं ?"

"हाँ।"

देखा—मैंने उनकी आकृति की ओर। मालूम पड़ता था—मानो शरीर से लावण्य जाता रहा हो! सहसा इस तरह का परिवर्तन देख मैं किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा। कुछ देर तक दोनों निस्तब्ध रहे! पर, यह निस्तब्धता क्षणिक थी। कुछ देर के बाद वह बोल उठीं—अच्छा, घर जाएँ, प्रसन्नता की बात है, पर, आपसे एक निवेदन है और वह यह कि, मेरे अपराध को आप क्षमा ....।

उसके बाद उनसे बोला न गया। मैंने देखा—उनकी आँखों से आँसुओं की एक-दो बूँदें ढलककर कपोल पर आ गई हैं।

"अहा, यह क्या ? उषा देवी ! रो पड़ीं क्यों ?"

अंचल से आँसू पोंछते हुए गद्‌गद् कंठ से वह बोल उठीं—क्या आप क्षमा न करेंगे !

"इसी के लिए आप रो रही हैं ? यह क्या ? इतनी-सी अदनी बात के लिए ? लो, मैं क्षमा किए देता हूँ।'—मैंने हँसते हुए कहा।

देखा—उषा की मुख-श्री खिल उठी; अधरों पर मधुर हास्य की समुज्ज्वल रेखा खिंच आई। मालूम होता था—मानो सुधा का घड़ा वह वसुंधरा पर उढेल रही हैं। मुझसे भी रहा न गया। मैंने उनसे कहा—क्षमा तो मैंने अवश्य कर दी, पर, आप भी कर दें, तब न !

"आह ! यह क्या कहते हैं ? इसके योग्य आपने मेरा अपराध ही क्या किया है ?"

"योग्य नहीं, योग्यतम अपराध किया है—मैंने आपकी सेवा स्वीकार की है। आपके पढ़ने और आनंद-उल्लास में मैंने विघ्न डाला है।"

"हाँ, ठीक है। इसके लिए आपको दंड देना ही चाहिए ? हैं आप दंड ग्रहण करने को तैयार ?"

"सहर्ष ! और आंतरिक हृदय से—बड़े उल्लास के साथ !"

"सच कहते हैं ?"

"संभवतः मैं झूठ नहीं बोलता ! भगवान साक्षी हैं।"

"अच्छा तो, सजा आपके लिए मैंने यही तजवीज की है कि आप मुझे अपने मित्रों में एक समझें।"

मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा। आह ! इतने दिनों के बाद मेरे सामने स्वर्ग का यह रमणीय दृश्य दीख रहा था। अपने को मैं सँभाल न सका। कह दिया—अच्छा, स्वीकार है।

इसके बाद कुछ देर तक और बातें होतीं, पर, न हो सकीं। डाक्टर साहब आ गए और आते ही बोल उठे—उषा, कल सुशील बाबू, जा रहे हैं। जानती हो ?

"हाँ, जानती हूँ।"

"फिर अब क्या ? भगवान को इसके लिए धन्यवाद दो। हाँ, प्रसन्नता के साथ।"

मैंने भी उषा से कहा—हाँ, मिस राय, मेरी आरोग्यता के लिए आप डाक्टर साहब को धन्यवाद दें।

उषा विहँस पड़ीं। डाक्टर साहब बोल उठे—हाँ, उषा! मैं केवल धन्यवाद लेकर ही चुप न रहूँगा। मुझे तो और कुछ चाहिए।

"वह क्या?"

"प्रीति-भोज!"

"प्रीति-भोज!"—उषा हँस पड़ीं और हँसती हुई ही बोलीं—"अच्छा, डाक्टर बाबू अकेले-ही-अकेले वा और कोई?"

"हाँ-हाँ, और!"

"और कौन?"

"सुशील बाबू और तुम!"

"पर, ये तो घर जा रहे हैं?"

"फिर तो आवेंगे ही।"

"अच्छा, तभी दिया जायगा।"

दोनों हँसते हुए चले गये। पर, चलने के समय देखा—उषा के मानो पाँव ही आगे को न बढ़ते थे। जो हो, उस दिन उत्सुकता में ही रात निकल गई। दूसरे दिन प्रातःकाल की ट्रेन से भैया के साथ मैंने घर की यात्रा कर दी।

८

बहुत दिनों के बाद मुझे नगर छोड़कर ग्राम में आना पड़ा था। अतएव, मुझे कितनी बातों में नवीनता-सी दीख पड़ रही थी। कुछ ही दिन पहले जिसे मैं गँवई-गाँव-सा समझता था, वही आज आनंद-प्रद दीख पड़ने लगा। संभव है, यह मेरा भ्रम हो वा मेरा दृष्टि-दोष; पर, यह यथार्थ में मेरे लिए एक कौतूहल का ही विषय था।

ग्राम में प्रवेश करते ही मेरी शैशव-स्मृति, जो आनंद-अवसाद, दुख-सुख, समवेदना और सहानुभूति की पूँजीभूत वस्तु थी, वही एक-एक कर आज मेरे अंतस्तल में आनंद-उल्लास की सजीव प्रतिमा प्रस्तुत करने लगी। मुख पर प्रफुल्लता, ओठों पर मधुर हास्य-रेखा, आँखों में सहानुभूति कृतज्ञता का नशा और हृदय में अभिनव स्फूर्ति का संबल लेकर मैंने अपने ग्राम में प्रवेश किया। उस समय मेरे मस्तिष्क में जिन भावों का तूफान मचा था उससे मैं अवश्य ही अस्त-व्यस्त हो गया था। मैं दरवाजे पर गाड़ी से उतरते ही सीधे आँगन को लाँघता हुआ चाची के कमरे में उन्हें प्रणाम करने को दौड़ पड़ा। पर, वहाँ का दृश्य ही दूसरा था ? मैं देखते ही पहले तो सहम-सा गया। बात यह थी कि चाची रुग्ण-शय्या पर पड़ी थीं और पायताने बैठ छोटी भाभी उनके पाँव दबा रही थीं। मुझे देखते ही छोटी भाभी झपटकर बोलीं—अहा! आ गये आप ? कहिए-कहिए—अपना कुशल-समाचार !

इतने में चाची भी चमक उठीं और बोलीं—क्या है, छोटी, क्या मेरा मुन्ना आ पहुँचा ?

"हाँ, चाची, मैं आ गया।"—मैंने कहा। उन्होंने आँखें खोल दीं। मैंने पैर छूकर प्रणाम किया। चाची ने अनेक आशीर्वाद दिए। इसके बाद उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचकर सामने बिठा लिया। मैंने देखा—उनकी आँखों से आनंद के मोती ढलक-ढलककर आप ही गिर रहे हैं। उस समय का दृश्य वस्तुतः बड़ा ही करुण था! मालूम पड़ता था—कितने दिनों के बाद खोया हुआ धन चाची के हाथ लगा है। कमरा स्तब्ध था। सभी स्तब्ध और विस्मय-विमुग्ध थे।

कुछ ही क्षण के बाद मैंने निस्तब्धता भंग की। मैंने चाची से पूछा—कब से बीमार हैं, चाची अपनी बीमारी का समाचार तो मुझे न दिया, चाची!

चाची बोल उठीं—समाचार जानकर क्या करते, बेटा ? परदेश में एक तो आप ही दुखी थे तुम, ऊपर से मेरा समाचार पाकर और कितना दुःखी होते, बेटा ?

इसके बाद छोटी भाभी बोल उठीं—वाह, जनाब! आप तो गाड़ी से कुचले गए थे फिर भी अपने घर में खबर दी ? देना न चाहिए था ? उसी दिन से तो चाची और भी बेचैन हो रही हैं जिस दिन से आपके मित्र का पत्र मिला है! क्या आपसे एक पत्र तक भी देते न बना ?

छोटी भाभी ने यदि यह अंतिम वाक्य रुखाई से कहा होता

तो मेरे दिल पर और ही प्रभाव पड़ता। पर, ऐसा न हुआ। उन्होंने जो कुछ कहा था—व्यंग के रूप में कहा था और मुकिराते हुए; इसलिए मैंने उनके कथन को मजाक ही समझा और उनसे कहा—करता ही क्या?—इधर-उधर करते हुए कह डाला—हाँ, यह तो मुझसे अवश्य भूल हुई है, भाभी; पर, क्या यह क्षंतव्य नहीं है?

इसी बीच में चाची बोल उठीं—रहने दो ये बातें, छोटी! जरा लल्ला को कुछ नास्ता-पानी कराओ! क्यों इसे बातों में भुलाकर परेशान कर रही हो? जा, बेटा, मुँह-हाथ धो—कुछ खालो! जा—जा, बेटा! अब मैं तुम्हें देखकर अच्छी हो जाऊँगी! हाँ, अब तो अच्छी ही हूँ!

मैंने कहा—कहाँ अच्छी हो, चाची! देखता हूँ—शरीर में केवल हड्डियाँ ही हड्डियाँ रह गई हैं!

चाची ने मुस्किराते हुए कहा—अब तो इस बूढ़े शरीर की शोभा ये हड्डियाँ ही हैं, बेटा! जवानों के लिए न मांस-मज्जा चाहिए। पर, नहीं, बेटा, अब तुम्हारे आने से मेरा विश्वास है, मेरी बीमारी जाती रही। अब कल से देखना, बेटा, कैसी मोटी-तगड़ी हो जाती हूँ! हाँ, बेटा, तुम कितने सूख गए हो! बड़ा खैर हुआ, बेटा, मोटर के नीचे से बाल-बाल बचकर निकले! मैं तो पहले से ही डरती थी कि, तुम अल्हड़ ठहरे, शहर में अल्हड़पन करोगे ही? इसलिए······।

चाची अपने दाएँ हाथ को बढ़ाकर मेरे क्षत स्थान पर हाथ फेरने लगीं।

"हाँ, चाची",—मैंने सर्माते हुए कहा—तभी तो अपनी करनी का फल मिल गया मुझे ? अब से मैं ऐसा न करूँगा, चाची !"

इतना कही पाया था कि, मेरी आँखों में, न जाने कहाँ से आँसुओं की धारा फूट पड़ी ! मैं मुँह फिराकर उन्हें पोछना ही चाहता था कि, छोटी भाभी ने मेरी अवस्था का अनुमान कर, मेरी बाँह पकड़ते हुए कहा—चलिए, सुशील बाबू, कुछ जलपान कर लीजिए ! मुँह-हाथ धो चुके हैं न ?

मैंने सूखी हँसी हँसकर कहा—हाँ, भाभी, देखा—घर पहुँचने पर जल्द तुम्हारे हाथों से खाना मिलेगा, फिर मैं मुँह-धोने में देर क्यों करता ?

भाभी हँस पड़ीं और जरा भवें नचाकर बोल उठीं—रहने दो, भला ! इतनी बातें तुरत कैसे सीख लीं, जनाब ?

इतने ही में हमलोग घर से बाहर हो सीढ़ी के पास पहुँच गए थे ! इसी समय बड़ी भाभी की दृष्टि मुझपर पड़ी और मेरा उनपर। मै ठिठक-सा गया और वहाँ से झट चलकर उनके निकट आ उन्हें पैर छूकर प्रणाम किया और उनकी गोद से लल्लन को उठा अपनी गोद में उसे लेकर, मुँह चूमने लगा।

मैं उनके पास ठहर गया कि, भाभी मुझसे कुछ कुशल-समाचार पूछेंगी, कुछ मेरी आकस्मिक घटना के सम्बन्ध में बातें करेंगी; पर, क्यों मुझसे पूछने लगीं ! मैंने लल्लन को खड़े-ही-खड़े अपने कठोर चुंबनों से विरक्त कर डाला था। वह मुझे अनजान समझकर रो पड़ा, फिर भी मैं उसे खुश करने का उपक्रम

ही करता रहा। पर, सहसा देखा, बड़ी भाभी उसे मेरी गोद से ले रही हैं। उन्होंने उसे अपनी गोद में लेते हुए कही डाला—रुला डाला इसे !

बात तो यथार्थ थी—मैंने उसे रुला डाला था; पर, उनके कहने का ढंग ऐसा था कि मुझे कुछ अच्छा न जँचा मुझे अपने आप पर बड़ा रंज हुआ और अपने वात्सल्यपूर्ण हृदय पर खेद।

बड़ी भाभी अपने कमरे की ओर चली गईं और मैं वहीं कुछ देर तक योंही ठिठका ही रहा। फिर पीछे की ओर मुड़कर देखा—छोटी भाभी मेरे पास पहुँच गई हैं। उन्होंने मुझसे कहा—चलिए, ऊपर चलिए।

मैं चल दिया ऊपर—कोठे पर। छोटी भाभी भी साथ ही आईं। दोनों उनके कमरे में पहुँचे। मैं टेबुल के पास कुर्सी पर बैठ गया। भाभी ने कुछ मिठाइयाँ और फल टेबुल पर रख दिए और वहीं एक सिरे पर बैठकर शर्बत बनाने लगीं मैं नास्ता करने लगा। भाभी ने शर्बत में नेंबू निचोड़ते हुए कहा—आप बड़े कठोर हैं सुशील बाबू ! इतने ही दिनों में हमलोगों को भुला बैठे थे ! क्या की थी प्रतिज्ञा मेरे सामने उस दिन !

"हाँ, भाभी, माँफ करो ! मैंने अवश्य भूल की है ! पर, यह भूल हृदय की भूल नहीं है, भाभी !"

"तो किसकी भूल है ?"

"न—न सुनाऊँगा !"

"न सुनाएँ ! छल करते हैं न ?"

मैंने देखा—भाभी की आँखों में आँसू छलछला आए ! मुँह का रंग फीका पड़ गया ! मैंने ताड़ लिया—अवश्य मेरे वचनों से इनके हृदय में चोट-सी लगी। इसलिए मैंने अपने भाव को बदलते हुए कहा—भाभी, मैं इसलिए नहीं कहना चाहता था कि शायद तुम्हें दुख हो !

"तो क्या मैं आपके लिए यों दुखी नहीं हूँ सुशील बाबू ?"

"हाँ, भाभी, यदि तुम्हारी ममता मुझपर न होती तो····।"

"वाह जी, खूब कही ! ममता क्या, यह तो कर्त्तव्य ही ठहरा !"

"पर, खेद है, भाभी,"—मैंने दुखी होकर कहा, आज से चार महीने हुए, बड़े भैया ने रुपए भेजना बंद कर दिया था। उन्होंने ऐसा किया क्यों, मुझे कुछ भी मालूम नहीं।"

मैं इतना ही कह पाया था कि, देखा—उन्होंने एक गहरी साँस छोड़ी। इसके बाद अपने हृत्-गत भावों को बदलते हुए कहा—यही समय है कष्ट उठाने का, सुशील बाबू! यह परीक्षा थी आपकी !

वह चुप हो गईं ! फिर कुछ देर के बाद शर्बत का ग्लास मेरी तरफ बढ़ाते हुए बोलीं—हाँ, सुशील बाबू, यह तो कहिए—वह कौन ऐसी शोख लड़की थी जिसने आपको मोटर के नीचे धर-दबोचा ? औरतें भी मोटर चलाने लगी हैं ?

मैं उनकी बातों पर खूब ठहाका मारकर हँस पड़ा। हँसा इसलिए कि, हमारे घर की स्त्रियों को संसार का कुछ भी पता

नहीं। भाभी मेरी हँसी से कुछ उद्विग्न हो चली थीं; इसलिए मैंने हँसते हुए ही कहा—हाँ, पढ़ी-लिखी भले-घर की देवियाँ सब काम अपने हाथों करने लगी हैं, भाभी! वह नामी बैरिस्टर की कन्या है। पढ़ती है! उस बेचारी का क्या दोष। मैं ही जब खुद-ब-खुद उनके पथ पर आ गया तब वह कर ही क्या सकती थीं?

"नहीं, सुशील बाबू, भूलते हैं! स्त्रियाँ चाहे जितनी उन्नत क्यों न हों, पुरुषों की समता नहीं कर सकतीं। पुरुषों का काम है—चलाना, संसार का परिचालन करना। वही इसे निभा सकते हैं, पर, अनधिकार चेष्टा ......।

"अनधिकार चेष्टा कहती हो, भाभी? आजकल संसार का रुख ही बिलकुल बदल गया है। स्त्रियाँ समानाधिकार चाहती हैं! वे पर्दे में रहना पसंद नहीं करतीं।"

"तभी तो स्त्रियों में उद्दंडता आने लगी है! अब तो कुछ ही दिनों में वे पुरुषों को बच्चे भी न ......।"

मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा, वे भी हँस पड़ीं; पर, कुछ ही क्षण के बाद गंभीर होकर बोलीं—नहीं, सुशील बाबू, ठीक कहती हूँ मैं! यह अप्रिय है सही, किंतु असत्य इसे आप नहीं कह सकते। जब ये लोग खुले आम विचरण करने लग गई हैं, तब तो जब इच्छा होगी और जिससे दिल मिलेगा, प्रेम-संभाषण करना प्रारंभ कर देंगी, और, समझे, सुशील बाबू, आप जैसे सुंदर-सुंदर जवानों को तो ....।

इसके बाद भाभी मुस्किरा उठीं।

"तो इसमें कोई हर्ज है, भाभी ?"—मैंने हँसते हुए कहा।

"हर्ज किसमें है ? भले ही हमलोग हर्ज समझें; पर, उन लोगों के लिए हर्ज है वा नहीं, वेही जानें। हाँ, मैं इतना ही कहूँगी—यदि ऐसा ही हाल रहा तो तलाक़ की प्रथा भी शीघ्र चलानी पड़ेगी।"

"हाँ यह तो होना ही चाहिए"—मैंने कहा, "क्यों न होना चाहिए, भाभी ? आप जानती हैं—नित्य प्रति हमारे समाज में, हमारे ही गाँव में देख लीजिए, पुरुष किस बे-रहमी के साथ अपनी स्त्री पर हाथ उठाते हैं। फिर भी वह बेचारी मुँह से चीख भी नहीं सकती। ऐसी दशा में यदि तलाक़ की प्रथा चालू ही ·····।"

"रहने दीजिए, जनाब ! यह तलाक़ रहे उन्हीं लोगों के पास ! हमारा आचार, हमारी संस्कृति हमारे लिए है और हम उनके लिए। इन्हीं में हमारी भलाई है। हम दूसरे की जूठन चाटकर पेट नहीं भर सकते—नहीं भरना चाहते और न भरने की आवश्यकता ही है।"

"तो हम अपनी संस्कृति, अपने आचार को कब दूषित बतलाते हैं ? पर, हैं तो हमीं लोग अकर्मण्य ! हमारी संस्कृति चाहे जितनी उच्च क्यों न हो, पर उसमें कुछ रूढ़ियाँ ऐसी पैठ गई हैं जो उसके रंग को भद्दा बना रही हैं; अब आवश्यकता है उन दोषों को निकाल उसे समयानुकूल रंग-में-रँग देने की।"

"हाँ, इतना भर मान सकती हूँ जहाँ तक हमारी संस्कृति की वह चमक झलक न उठे ! पर, एक बात है, सुशील बाबू, लोग

आजकल जहाँ दूसरे की नकल करने जा रहे हैं, वहाँ अच्छाई की कुछ नकल तो करते नहीं, उनकी बुराइयों की ही नकल करते हैं। नकल करना कुछ बुरा नहीं; पर, नकल के लिए भी तो कुछ अकल चाहिए।"

"सो ठीक है, भाभी! पर, अब तो केवल बुराइयों की ही नकल नहीं की जाती, अच्छाइयों की भी नकल होने लगी है!"

"और उसका उदाहरण यही आपके सामने है।"

इतना कहकर भाभी खूब जोर से हँस पड़ीं, मैं भी हँसी को रोक न सका। आखिर, हँस ही पड़ा। बोला—कौन-सा उदाहरण भाभी?

"कहना पड़ेगा, जनाब! आज तो आप एक देवी की मोटर से कुचले गए हैं, और कहीं दूसरे दिन आप उनकी नजरों के शिकार न हो जाइए!

मैं फिर हँसी को रोक न सका। भाभी ने ये शब्द बड़ी निठुराई के साथ कहे थे। मैं उत्तर देने को ही था कि इतने में सुन पड़ी भैया की आवाज! वे मुझे नीचे से पुकार रहे थे। मैंने भाभी से कहा—अच्छा अभी चलता हूँ!

उन्होंने कहा—हाँ, जा सकते हैं जाइए। पर, मेरे प्रश्न का उत्तर आपके पास सुरक्षित रहा।

मैं मुस्किराता हुआ बाहर की ओर चल दिया।

६

देखते-न-देखते एक मास शेष हो गया, पर भैया ने मुझसे पढ़ने के संबंध में कभी कुछ बात तक न की। मैं दिन को खाने-पीने से छुट्टी पाकर इधर-उधर हवा-खोरी को निकल जाता। गाँव में मुझे लँगोटिए दोस्तों का अभाव था, केवल एक वही किसुन था जिससे मुझे मिलने की इच्छा ही न होती थी। आखिर अकेला कौन कब तक रह सकता? लाचारी थी! मैं अब किसुन के पास ही दुपहरी बिताने को निकल जाता।

किसुन में और बातें चाहे जैसी हों, पर मिलनसार वह अवश्य था। मुझे तो वह बहुत दिनों के बाद पाकर उसकी मनो-वांछाएँ खिल उठीं। पहले-पहल जिस दिन मैं उससे मिलने को गया था, उसे मुझको पाकर इतनी खुशी हुई थी कि वह मानो अपनी खुशी को अपने हृदय में समेट ही न सकता था। उसने मुझे देखते ही लपककर छाती से लगाया, दिल खोलकर मेरी आवभगत की, अपने हाथों हलवा बनाकर खिलाया, चाय पिलाई, बैठकर गप्पें कीं, कुछ नगर और गाँव की तुलना रही और सबके अंत में मेरे मोटर से कुचले जाने की बात। इसके बाद उसने मेरी पढ़ाई-लिखाई की बात पूछी; खर्च-बर्च की बात चलाई। जो हो, मैंने देखा—किसुन अब वह किसुन नहीं रह गया। अब उसमें गंभीरता आ गई है, और कुछ मन में स्थिरता भी। पर,

इतने ही दिनों में इतना अंतर कैसे आ गया—मैं उसी दिन से उसका पता लगाने लगा।

किसुन कुछ अधिक पढ़-लिख तो न सका; क्योंकि, उधर इसकी प्रवृत्ति ही न थी, फिर भी दिहाती पाठशाला ही में मिडिल कक्षा तक पहुँचकर पढ़ना छोड़ बैठा था। कारण था—उस समय वह अपने पथ से भ्रष्ट हो रहा था; पर, अब जब उसे पढ़ने की इच्छा थी, घर-गिरस्ती की फिक्र पड़ी; और सभी कामों को छोड़ अपने काम में लग गया। हाँ, भगवान् की दया थी—खेती भी इसकी अच्छी रही। अब उसे कोई आवारा—लाखेरा नहीं कहता। हाँ, गिरस्तों में वह एक 'खास स्थान' दखल करने जा रहा था।

किसुन की अभी तक शादी न हो सकी थी और न इसके लिए कोई चर्चा ही थी। कारण था—घर पर माँ के सिवा ऐसा और दूसरा न था जो इसके विवाह के लिए प्रयत्न करता। हाँ, इसकी बूढ़ी माँ इसके लिए रह-रहकर आह छोड़ती, वह भी इसलिए कि, बुढ़ापे में अपने बेटे का गँठजोड़ा देख लेती। पर, करावे कौन? इधर किसुन अभी तक अपने पैरों जमकर खड़ा भी न हो सका था! जो हो और बातों में तो किसुन का परिवार अभी तक बहुत अच्छा कहा जा सकता है।

मैं किसुन से जब-जब उसके विवाह के संबंध की चर्चा करता तब-तब उसके मुँह से यही कहते सुनता—'मजे में हूँ, विवाह एक बंधन है. इससे सारी स्वतंत्रता जाती रहती है—कौन बला मोल

ले ! अच्छा फिर कभी देखा जायगा, अभी इसकी क्या पड़ी है !'— मैं सचमुच इन उत्तरों को पाकर दंग रह जाता, और मन-ही-मन कहता—वाह ! किसुन कितना भला आदमी है ? यह उपेक्षणीय नहीं।

यही कारण था कि इसके सहवास में मुझे अब ग्राम्य-जीवन ही सुखद बोध होने लगा था ! मैं पटना को एक प्रकार से भुला ही बैठा था, वहाँ की सारी घटनाएँ मेरे स्मृति-पथ से हट-सी गई थीं। मैं वहाँ की सारी घटनाओं को, मित्र-समाज को, हास्पिटल की बात को, यहाँ तक कि, मिस राय को भी एक प्रकार से भूल ही बैठा था। अब मेरे लिए था यहाँ एक किसुन और दूसरी मेरी छोटी भाभी, तीसरी किंतु रुग्ण-शय्या पर पड़ी हुई, चाची मेरी !

× × × ×

एक दिन किसुन की चौपाल में चौकी पर हम दोनों लेटे दोपहरी बिता रहे थे। इधर-उधर की गप्पें चल रही थीं। इसी समय एक युवती—कोई १३-१४ की होगी, सीधी-सादी, शरीर एक साफ धोती से ढकी, सर्माई आँखों से, चौपाल की चौखट पर आ खड़ी हुई और धीरे-धीरे किंतु करुण शब्दों में बोल उठी—दो रुपए दे दीजिए, किसुन बाबू, बहुत जरूरी काम है !

उसकी आवाज में दर्द था और आँखों में दीनता की बूँदें।

मैंने लेटे-लेटे ही उसकी ओर मुड़कर देखा, आकृति कुछ परिचित-सी जान पड़ी, फिर भी मैं पूर्णतः पहिचान न सका। हाँ,

उसकी ओर, पहली दृष्टि में ही, मैं आकृष्ट हो गया था। पर, जैसे ही उसकी दीनता सुनी, मेरे भाव में परिवर्त्तन हो गया। उसकी पुकार पर मेरी सहानुभूति छलक पड़ी। मैंने किसुन से कहा—देखो, भाई किसुन, कौन तुमसे क्या कह रही हैं!

"हाँ, सुनता हूँ!" किसुन ने मुझसे कहा, फिर उससे पूछा—"अभी दुपहरी में तुम्हें रुपए की कौन-सी जरूरत आ पड़ी?"

"जरूरत न होती तो मैं आती ही क्यों? अभी बैद—गेंदा चौबे आए हैं, बाबूजी को देखने। बीमारी बिगड़ चली है। पर, वे कहते हैं—रुपए जब तक न दोगी—न देखूँगा।"

वह और कुछ बोलना चाहती थी, पर उससे और न बोला गया। बोध हुआ, उसका गला बैठा जा रहा है, शायद आँखों से आँसू भी झर रहे हैं।

मैंने किसुन से कहा—देखो तो, भई! लोग कैसे स्वारथी हो रहे हैं! बीमार मरणासन्न हो, पर वैद्य रुपए लिए बगैर इलाज तक न करे—दवा तक न दे! ऐसे वैद्यों को ही मौत क्यों नहीं आती?

"ठीक कहा, सुशील! देखो तो भला शैतान के बच्चे को! बगैर रुपए लिए देखेगा ही नहीं! नीचता की कोई हद है! गरीब आदमी बार-बार, कहाँ से रुपये देगा! मैंने कई बार इसी बीमारी में उसे अपने हाथों रुपए दिए हैं, फिर भी एकाधबार वह इसी तरह देख दे तो क्या अन्याय हो जाय!"

मैंने देखा—उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू छलछला रहे हैं, और वह मेरी ओर श्रद्धा की दृष्टि से जब कभी देख लेती है।

मुझसे रहा न गया। मैंने किसुन से कहा—भई, दो रुपए की तो बात है ? क्यों नहीं दे देते ! आखिर, भगवान् के नाम पर तो·····।

किसुन ने अपनी कमर से दो रुपए निकालकर उसकी ओर फेंक दिए। वह उन्हें उठाकर एक बार मेरी ओर दूसरी बार किसुन की ओर देखकर चली गई।

उसके जाने के बाद किसुन ने मुझसे जरा मुस्किराते हुए कहा—क्यों, सुशील, पहचाना उसे ?

"बोध होता है, उसे, कहीं देखा है, पर, ठीक याद नहीं पड़ता ! कौन थी वह किसुन ?"

"वाह रे भले आदमी !"—किसुन ने मेरी पीठ पर चपत लगाते हुए कहा—"इन्हीं कुछ दिनों में तुम्हारी आँखें इस तरह बदल गईं ? हाँ, बदलनी ही चाहिए ? कहाँ शहर में परियों का नाजो-अदा देखना और कहाँ गँवई की लुगाइयाँ !"

"बात ही बनाओगे वा उसका नाम भी कहोगे ? मैं तो अब भी न पहचान सका।"

"क्या तुम्हें वह दिन याद नहीं, सुशील, जब हम लोग भंग चढ़ाकर मटर की छीमी खाने को निकल पड़े थे खेत की ओर और जहाँ यह लड़की रखवाली कर रही थी जिसपर तुम्हारा मन····· ।"

"हाँ, याद पड़ा, मगर, तुम्हारा मन क्यों कहते हो—यह न कहो कि, मेरा मन पिघल गया था !··········अरे किसुन भाई ! यह कैसी बात ? उस दिन तो तुमसे कितनी खीझ गई थी,

पर अब तो देखते हैं—तुम दोनों घुलमिलकर मक्खन-मिश्री बन रहे हो।"

"अरे, मक्खन-मिश्री की क्या बात चलाते हो?"—किसुन ने हँसते हुए कहा, "तुम्हें याद होगा, मैंने तुमसे कहा था न? ठीक वही बात आखिर देखी न! अरे, सती कहलानेवाली अनेक देखीं, पर काम पड़ने पर शायद सौ क्या हजार में पाँच निकलना भी कठिन है! हाँ सुशील उस दिन तो दूध की धोई दीख रही थी न।"

मेरे मन में कुछ उत्सुकता हुई जानने की और व्यग्रता हुई कुछ सुनने की! मैं मन-ही-मन समझने लगा—किसुन कितना पाजी है! कितना कुत्सित-हृदय है उसका! पर, प्रकाश्य रूप में, अपने मन के भावों को छिपाते हुए उससे पूछा—"तो क्या तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर डाली?"

मैं उसकी ओर उत्सुकता से देखने लगा।

"पूरी करना कुछ साधारण-सी बात नहीं है, सुशील, जैसा कि तुम समझ रहे हो! जो देह पर एक मक्खी-तक भी न बैठने दे, वह, देखते हो, आप चिपकने दौड़ती है—यही क्या कुछ कम समझ रहे हो? क्यों कैसी अब दीखती है? टटकी है न?"

"छिः, क्या कहते हो? बेचारी गरीबन पर क्यों आँख गड़ाते हो? वह आप ही आफत की मारी अभागिन है! उसपर तुम्हारा यह·········।"

"अरे यार, रहने दो!"—बात काटकर उसने कहा, "मैंने इसी के लिए समय-समय पर कितने रुपए बर्बाद किए हैं, से क्या

यों ही फ़िज़ूल ही जाएँगे ! मैं दानी कब का निकला ? मैंने जब कोई उपाय न देखा इसे फँसाने का तब मुझे एक यही उपाय दीख पड़ा कि, इसके घरवाले को और खासकर इसे ऐसी कृतज्ञता-पाश में बाँध रखूँ जिसे वह किसी भी हालत में तोड़ न सके। उसी का यह फल है। अब जब चाहूँ तब अपनी प्रेम-चर्चा........। हाँ, सुशील, तुम्हें भी कुछ चाहिए ?"

"छिः, भगवान के नाम पर ऐसी बातें न चलाओ, किसुन ! गरीबों को कुछ देते हो, दिया करते हो तो अच्छा ही करते हो; पर, तुम्हारी नियत, देखता हूँ, बहुत ही खराब है ! और मुझे भी इस पाप में शरीक़ करना चाहते हो ? रखो अपना पाप अपने सिर, मैं क्यो इस बला में जान दूँ ?"

"रहने दो, रहने दो, सुशील ! बड़े साधु बनने चले हो ? जानता हूँ और तुम्हारी रग-रग को पहचानता हूँ ! बुद्धू थोड़े ही हूँ जो तुम्हारी न समझूँ ?"

"चाहे तुम जो समझो, किसुन, पर मैं वैसा नहीं हूँ ! मैं तो तुम्हें भी यही कहूँगा कि, तुम उसपर उपकार का जाल बिछाकर उसे बर्बाद न करो। कुछ भले-बुरे का भी विचार करो ! क्यों ?"

"जा-जा, यह सबक़ किसी और को सिखाना ! मैं जानता हूँ, तुम कहाँ पर हो ? मैं आज कहे रखता हूँ, गिरह बाँध रखो—तुम कूदोगे जरूर एक दिन, देखना ! हाँ, उस दिन पूछूँगा तुमसे।"

"अच्छा, उस दिन ही पूछना।"

इसी तरह न जाने कब तक बातें होती रहीं। धीरे-धीरे हम

दोनों को नींद ने घर दबाया। दोनों दुपहरी की नींद में खर्राटे भरने लगे! पाँच बजे भंग छान-छूनकर, इधर-उधर घूमते-फिरते संध्या को घर पहुँचा।

मैं रास्ते-भर यही सोचता आ रहा था कि, मनुष्य स्वार्थ-साधन-कला में कितना चतुर होता है! क्या इसे चतुरता कहेंगे या मानवता का पतन?

१०

कुछ दिनों से चाची की बीमारी बे-तरह बिगड़ती जा रही थी। घर के प्रायः सभी व्यक्ति चंचल हो रहे थे। डाक्टर और वैद्यों का घर पर ताता बँध रहा था। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा—इसी तरह कितने आए और चले गए; पर, बीमारी अच्छी होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। चाची दवा खाते-खाते ऊब-सी गई थीं। उन्हें जीवन भार-सा हो रहा था। वह अक्सर कहा करतीं—औषधि व्यर्थ है, डाक्टरों का बुलाना बेकार है; घरवाले व्यग्र हो उठे हैं। मेरी तो ठीक उसी पके आम-जैसी हालत है, जरा सी हवा का झोंका लगा कि धड़ाम से नीचे। फिर मेरे लिए चिंता क्यों? पर, वहाँ सुनता ही कौन है?

बड़े भैया खुलकर चाची की बीमारी में खर्च कर रहे थे। उनकी धारणा थी, अपनी चेष्टा-भर क्यों छोड़ा जाय। आखिर मरना तो निश्चित है, अटल है। यही कारण था कि चाची के

नाँहीं-नूँहीं करने पर भी इलाज जारी रहा; चाची की बात एक न सुनी गई।

यों तो घर-भर के लोग चाची की सेवा-शुश्रूषा किया ही करते; किंतु छोटी भाभी उनमें सभी से अन्यतम थीं। उन्होंने रात-की-रात और दिन-के-दिन उनकी सेवा-शुश्रूषा में कुछ उठा नहीं रखा। वह रोगिणी को उठातीं-बैठातीं; कपड़े बदलवातीं; बिछावन साफ करतीं, औषध पिलातीं और न जाने क्या-क्या करतीं। इनसे जो-कुछ समय बचता, कुछ अपने कामों में लगातीं; और इसके बाद उनकी पाद-सेवा करतीं, धीरज बँधातीं। फिर भी उनका मुख कभी म्लान न देखा गया; कभी उनके मुँह पर विषाद की छाया न दीख पड़ी। इतना होने पर भी बड़ी भाभी की भवें सदा तनी ही रहतीं और व्यंग की तो मानो कभी-कभो झड़ी ही लग जाती। कहतीं—छोटी तो तीन अठन्नी सीधा करने को पड़ी है, उनका मुँह चिकना और बातें मिश्री में घुली हुई हैं न! मुझे क्यों पूछे! फिर मैं बेवा बेकस के धन पर मरने क्यों लगी! मुझे किस बात की कमी? मैं कोई कंगाल के घर की थोड़े ही हूँ। जब मन में इच्छा हुई—एक चिट्ठी बाबूजी को उड़ा दूँ, फिर क्या, जितना चाहूँ, मँगा सकती हूँ। आदि-आदि—

यही कारण था कि बड़ी भाभी कभी उलटकर भी चाची को नहीं देखती। जब कभी बड़े भैया चाची के पास रहते और उन्हें बड़ी भाभी से कोई काम आ पड़ता तो नाक-भौं चढ़ाती वह वहाँ पहुँचतीं, बिगड़-बिगड़कर बातें करती और कोई-न-कोई

बहाना लेकर वहाँ से खिसक जातीं। चाची यदि कुछ आग्रह भी करतीं तो केवल उनकी मान-रक्षा के लिए एक-दो मिनट बैठ जातीं फिर काम का बहाना निकाल वहाँ से छू मंतर हो जातीं।

इतना कुछ होने पर भी यदि घर का सारा भार बड़ी भाभी अपने सिर उठाए रहतीं तो कोई बात न थी। कभी-कभी तो ऐसा दीख पड़ता कि छोटी भाभी को एक-दो घंटे के लिए फुर्सत न मिल सकती तो उस दिन घरवाले को भोजन नसीब न होता। बड़ी भाभी 'पेट में दर्द है', 'जी अच्छा नहीं है', मैं क्या खरीदी हुई लौंडी हूँ जो सभी के लिए आग में सोभूँ। छोटी कहाँ की नवाबजादी है कि वह बीमारी की सेवा का बहाना कसकर बैठी आराम करे—आदि-आदि बातें बनाकर कभी काट बैठतीं। उस दिन घरवाले को या तो एकादशी करनी पड़ती अथवा छोटी भाभी को चाची की सेवा से अलग हटकर रसोई बनानी पड़ती। ऐसी घटना प्रायः एक-दो दिन के परे ही घटती रहती। फिर भी बड़े भैया ने कभी भी इसके लिए उपाय न ढूँढ़ा और न बड़ी भाभी को कोई दुलख बातें ही कहीं। कहते ही कैसे? वे तो शासन में इतने ढीले पड़ गए थे कि बड़ी भाभी की फबतियों को भी वे सीधे पी जाते; पर उनकी भवों पर नाम के लिए भी बल न पड़ता। यों तो बड़ी भाभी पहले से ही उग्र-स्वभाव की थीं ही; पर, इधर चाची की बीमारी से तो और भी उद्दंड हो गई थीं। उनकी उद्दंडता यहाँ तक बढ़ गई थी कि, बड़े भैया पर तो वह बाघिन-सी गरजतीं और उन्हें ही सदा घता बतातीं। वे अपने

सामने किसी को कुछ लगाती ही न थीं! यह थी मेरे घर की दुरवस्था !

इस समय मेरे मन की भी विचित्र अवस्था हो चली थी। घर पर मैं बहुत कम ही बैठा करता—बैठता ही कहाँ और किस के पास ? बड़ी भाभी से तो बोलने का कभी साहस ही नहीं होता; मँझली भाभी विशेषतया पीहर में ही रहा करतीं और बचीं छोटी भाभी !—वह तो सदा सेवा में ही जुती रहतीं। चाची के पास बैठना मेरे लिए असह्य था ! उनकी बीमारी देखकर मुझे भय-सा लगता, इसलिए मैं बहुत कम उनके पास जाया करता। बड़े भैया काम पर रहते और उधर किसुन की बातचीत सुनकर उससे घृणा हो गई थी। और मेरे लिए दूसरा स्थान ही कहाँ रह गया था?

मैं छोटी भाभी के कमरे में या तो निद्रा की शरण लेता अथवा किसी-न-किसी उपन्यास से जी बहलाता और इसके बाद इच्छा होती तो चाची के कमरे में छोटी भाभी से दो मीठी बातें करता। चाची मेरी अवस्था पर बड़ी खिन्न रहतीं, पर, प्रकट रूप से अनेक तरह की बातें कर मेरा मनोरंजन ही करतीं। उस समय मैं अपने हृद्गत उद्गारों को छिपा नहीं सकता, वे आँसू के रूप में आँखों से आप-ही-आप बह निकलते। उस समय चाची स्नेह-गद्गद होकर कहतीं—मेरा सुशील कितना सूधा—कितना सरल है ! और कहतीं—बेटा, देखना, अपना नाम अपने गुणों से अमर बनाना !

वह अक्सर छोटी भाभी से कहा करतीं—मैं सुशील को

तुम्हारी देख-रेख में छोड़े जा रही हूँ, बेटी; देखना, अपनी शक्ति-भर! इसे तो तुम्हारा ही आसरा ठहरा। बड़ी दीदी मरने के समय इसे मुझपर सौंप गई थीं; पर, मैं अभागिन उनके पवित्र धरोहर की कुछ देख-रेख न कर सकी। अब मैं वह धरोहर तुम्हें सौंपती जा रही हूँ। विश्वास है, तुम इसे सहर्ष अपनाओगी।

उस समय, हाँ, ठीक उस समय, सच कहता हूँ मैं आत्म-विस्मृति में लीन हो जाता; उनकी निष्कपट सहृदयता और महानुभावता पर मेरी छाती फूल उठती और सच ही कहूँगा, मैं उस समय अपने को किसी सम्राट से कुछ कम न समझता। और मेरी छोटी भाभी? आह! उनका क्या पूछना? उनकी विशाल उज्ज्वल आँखें अश्रु-कणों से स्निग्ध हो जातीं, वे अपने को सँभाल नहीं सकतीं और उच्छ्वासित कंठ से अस्फुट शब्दों में कह उठतीं—ऐसा ही करूँगी, माँ! पर, भगवान के नाम पर ऐसा न कहें, माँ! कलेजा फटा ही चाहता है!

चाची इन बातों को सुन अपने को रोक नहीं सकतीं, उनकी आँखों से मोती के दाने बिखर ही जाते। उस समय उनके मुख से आशीर्वाद की झड़ी-सी लग जाती; पर, भाभी को न जाने क्या हो जाता! वह आशीर्वाद की उपेक्षा कर अपने कमरे की ओर चल देतीं और न जाने वहाँ क्या-क्या सोचतीं। मैं कुछ काल तक इधर-उधर करते हुए वहाँ से बाहर हो जाता।

मैंने अपने सुख-दुख के बारे में चाची से कभी एक शब्द तक न कहा था यद्यपि वे बार-बार मुझसे पूछा करतीं। यही कारण

था कि प्रवास के कष्ट, जो भैया के रुपए न भेजने पर मुझे झेलने पड़े थे, वे नहीं जानतीं। शायद चाची जानती होंगी कि बड़े भैया मुझे समय-समय पर रुपए भेजते ही होंगे! कई बार मेरी इच्छा हुई कि पत्रवाली बात मैं चाची पर प्रकट कर दूँ जिसमें उन्होंने खर्च बंद कर देने को लिखा था। पर, मैं यह समझकर उनसे न कहता कि कहीं भैया को यह खबर लग जाय तो आगे चल कर मेरी ओर से उनका मन ही फिर जायगा। उन आगत कष्टों का अनुमान कर मैं सदा शांत ही बना रहा!

मैं कभी-कभी एकांत में बैठ सोचा करता कि चाची के जीते जी जहाँ बड़े भैया का ध्यान मेरी ओर से फिर गया है, वहाँ, उनकी मृत्यु के बाद, तो वे मुझे तीन कौड़ी का भी न समझेंगे। माना कि छोटी भाभी मेरी देख-रेख में कोई कोर-कसर न रखेंगी, फिर वे बड़े भैया और भाभी के सामने कर ही क्या सकेंगी! मँझले और छोटे भैया इस झमेले में फँसेंगे ही नहीं। उस समय मुझे तो कष्ट होगा ही, छोटी भाभी भी कुछ कम दुखी न होंगी। उफ़! मैं उनके विपद् का कारण बनूँगा? वह भी अपने स्वार्थ के लिए? यह तो मुझसे हर्गिज न हो सकेगा!

मैं इसी चिंता-स्रोत में बह चला! धीरे-धीरे इसका प्रभाव मेरे शरीर और मस्तिष्क पर पड़ा! शरीर धीरे-धीरे घुलने लगा और मस्तिष्क में जोर की झंझा बह चली। पर, इसका आभास छोटी भाभी को लग चुका था, उनकी पैनी नजरों से कोई बात छिपी न रह सकी। पर, उस समय उन्हें अवकाश ही कहाँ था

कि वे अपनी मधु-मिश्रित वाणी का प्रसाद वितरणकर मेरे अशांत हृदय में सांत्वना का संचार कर सकतीं ! आह...!

११

मुझे ग्राम्य-जीवन अतिवाहित करते हुए प्रायः छः-सात महीने, देखते-ही-देखते निकल गए थे। एक ओर मुझे अध्ययन स्थगित होने का दुख तो था ही, साथ ही मिस राय की सदाशयता, विशुद्ध हृदयता मेरे हृदय को उद्बुद्ध कर रही थी दूसरी ओर अपनी एक-मात्र अभिभावका—चाची—की रुग्ण-शय्या चित्त को अस्थिर कर रही थी, साथ ही बड़े भैया और बड़ी भाभी की कठोर उदासीनता-क्रूरता भविष्य-जीवन-पथ को धुंधला बना रही थी। उस समय मेरी दशा ठीक उस नाविक के समान हो रही थी जिसकी जलपूर्ण नौका जल-मग्न होना ही चाहती है ? हाँ, छोटी भाभी की बलवती आशा अवश्य थी। वे अवश्य मुझे धीरज बँधातीं—साहस देतीं; फिर भी मैं गति-हीन था, बुद्धिहीन हो पथ-भ्रष्ट हो रहा था।

बड़ों का कहना है—आलसी का मस्तिष्क मानो भूतों का अड्डा है ! मैं भी कहता हूँ, वास्तव में वह मस्तिष्क भूतों का अड्डा ही है। मैं एक तरह से बे-काम था, बे-हाल था, फटी तक़दीर साथ थी मेरे ! मैं भविष्य पर अपनी लंगर खोल चुका था, केवल प्रवाह की आवश्यकता थी। फिर ऐसे समय जब कि मनुष्य

चारो ओर से निष्काम और निकम्मा हो जाता है, कुपथ में पाँव बढ़ाना बड़ा ही सहज-सरल हो जाता है और ठीक मेरे लिए भी यही बात थी!

अब मैं प्रायः घर से निकल, बिना किसुन के घर गए ही, इधर-उधर मटरगस्ती किया करता। किसुन से घृणा हो गई थी। क्योंकि उसने किशोरी को अपने माया-जाल में आबद्ध कर लिया था। वह किशोरी उसकी कामुक निगाहों की नूर थी, दिल का अरमान थी, वर्त्तमान का मधु, अतीत की स्मृति और संभव है, भविष्य की काली नागिन थी। मैंने जिस किशोरी को देख-सुनकर किसुन से कई बार कहा था—केवल कहा ही, नहीं था—भर्त्सना तक की थी, जिसके चलते उससे मेरा मन-मुटाव तक हो गया था, आखिर मेरी प्रवृत्ति भी उसी ओर और इस गति से प्रधावित हुई कि अब उसे देखे बिना जी को मानो चैन ही नहीं मिलता और वह बेचैनी ऐसी थी कि जिसे दबाना मेरे लिए मानो कठिन हो उठा।

मटरगस्ती करते-करते कई बार इच्छा हुई कि मैं किशोरी के घर-तक पहुँचूँ, और आँखें पसारकर, कम-से-कम, उसकी रूप-सुधा का पान तो करूँ। विचार इस तरह का अवश्य उठता, पर हृदय आगत आशंकाओं से अवसन्न हो जाता, फिर मैं कुछ देर के लिए अपने को साहसिक बनाता फिर भी अंतरात्मा मुझे सावधान करती, हृदय भयभीत हो जाता, मैं पथ-भ्रष्ट से परांग-मुख हो, शिव-शिव करते हुए, घर की ओर चल देता। फिर

हृदय में तुमुल युद्ध छिड़ जाता और अंत में इस निष्कर्ष पर आ खड़ा होता कि किस तरह किशोरी को अपना सकूँगा! फिर उसी अभीष्ट पथ की ओर चल पड़ता।

इस पथ पर मुझे केवल आशा-हीन होकर एक सप्ताह ही बिताना पड़ा। सहसा एक दिन किशोरी, संध्या के समय, निभृत पथ पर, एक वृक्ष के नीचे बैठी दीख पड़ी। मैंने उससे मिलने के लिए यही एक अच्छा सुयोग समझा। मैं उसकी ओर ही चल पड़ा।

किशोरी मुझे पहचानते ही उठ खड़ी हुई और आंचल को सिर पर चढ़ाती हुई बोली—आपने बड़ी दया की। मैं आपकी बाट जोहती हुई यहाँ अकेली बैठी हुई थी!

मैंने व्यग्रता से पूछा—क्यों किशोरी! मेरी बाट जोहने की ऐसी कौन-सी आवश्यकता थी? क्या कुछ मुझसे कहा चाहती हो?

मेरा हृदय आप ही भयभीत हो रहा था फिर भी मैंने चारों ओर सभीत दृष्टि से देखते हुए उससे पूछा—

"क्या कहा चाहती हो किशोरी?"

किशोरी फिर भी मूक थी; पर, हृदय उच्छ्वास से फूल रहा था और आँखें आँसुओं से तर हो रही थीं। धीरे-धीरे हिचकियाँ भी बँध गईं। अब मुझसे रहा न गया। जहाँ मेरा अशांत हृदय उसके गाढ़ आलिंगन का अरमान पूरा करना चाहता था, वहाँ उसकी दयनीय दशा से हृदय में सहानुभूति के भाव उद्‌बुद्ध हुए। मैंने उसकी अँगुली पकड़कर पूछा—

"क्या कहा चाहती हो, किशोरी?"

सहानुभूति साहस की जननी है। उसने अपने हृदय को स्थिर करते हुए कहा—आप जानते हैं, सुशील बाबू मैं एक गरीब मजदूरिन हूँ। मेरे बाबा ठीक उसी दिन, जिस दिन आपने मुझे किसुन बाबू से रुपए दिलवाए थे, मुझे असहाय छोड़कर चल बसे! मैंने बड़ी कठिनाई से उनका श्राद्ध किया—ब्राह्मण जिमाए। अब मैया—अंधी मैया—रह गई है। वह भी ठीक उसी दिन से, जिस दिन बाबा की अर्थी दरवाजे से निकली, बिछावन पर पड़ी है। मैं सारा दिन उसीकी सेवा-टहल में लगी रहती हूँ। उसके पथ्य के लिए मेरे पास फूटी कौड़ी तक नहीं है। हाँ, बीच-बीच में किसुन बाबू मेरी मदद जरूर करते थे, पर उनके बुरे बरताव से मैं उनके मुँह पर थूकने भी नहीं जाती और जाऊँगी भी नहीं। कारण मैं पीछे कहूँगी? क्या आप अपने यहाँ मजदूरिन का काम नहीं दिलवा सकते? मैं बड़े मालिक के पास जाना चाहती थी; पर, मैं वहाँ जा न सकी। इतनी-सी दया मुझ बेकस पर नहीं करेंगे?

"दया!"—मैंने कहा, "दया कहोगी तो मैं हर्गिज दया न करूँगा। हाँ, यह तो कहो, अभी कितने से तुम्हारा काम चल सकता है?"

"मुझे कुछ ज्यादा की जरूरत नहीं है? यही दो आने से काम चल जायगा।"

संयोग से उस दिन मेरे पास पाँच रुपए का एक नोट था। मैंने उसे अपनी जेब से निकाल उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—

अभी यह लो, किशोरी; इससे अपना काम चलाना। यह पाँच रुपए का नोट है!

"पाँच रुपए? पाँच रुपए लेकर क्या करूँगी? नहीं, मुझे यह न चाहिए।"

"ले जाओ इसे। अभी नहीं तो पीछे इससे काम चलेगा। हाँ, तुम्हारी नौकरी के बारे में मैं घर पर भाभी से कहूँगा। यदि जरूरत हुई तो मैं तुम्हें खबर दूँगा। अभी जाओ। हाँ, तुम्हारी माँ को क्या हुआ है? क्या मैं उसे देख सकता हूँ?"

किशोरी कुछ काल तक अन्यमनस्क हो रही, फिर कुछ देर के बाद बोली—आप मेरे घर पर जा सकेंगे? मैं आपको बैठाऊँगी कहाँ? हमलोग गरीब आदमी ठहरे!

"जाने दो इन बातों को, मैं नहीं सुनना चाहता। मैं चलूँगा जरूर! चलो अब चल चलें। यहाँ अँधेरा छा गया है, लोग देखकर .. . .।"

वह बीच ही में बात काटकर दृढ़ता से बोल उठी—देखकर क्या कहेंगे, सुशील बाबू! मैं इसकी कितनी पर्वाह करूँ? कहने को कोई थोड़े ही मुँह पकड़ सकता है! आदमी का ईमान तो आदमी के साथ ही रहता है।

वह बोलते-बोलते रुक गई, फिर न जाने क्या सोचकर बोली तो क्या आप भी चलेंगे?

'जरूर!'—और मैं उसके साथ हो लिया। संध्या घनी हो गई थी, गाँव के घरों में बत्तियाँ जल गई थीं। कुछ ही देर के बाद

मैं किशोरी के घर पर पहुँचा। देखा—घर अंधकार-पूर्ण है? कौन बत्ती जलाता! मैंने अँधेरे में ही उसके घर में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही रोगिणी का अस्फुट शब्द सुन पड़ा—आ गई बिटिया?

"हाँ, आई, माँ! साथ ही सुशील बाबू भी तुम्हें देखने को आए हैं।"

"भगवान् भला करे, बाबू का।"—बूढ़ी ने शांत स्वर में कहा और मेरी ओर देखने लगी। 'हाँ, बेटी, बाबू को बैठने को आसन दो कोई! पर, आसन होगा कहाँ? देखो, च ..टा...ई ...!

बूढ़ी से और अधिक न बोला गया। कितना स्वच्छ हृदय था उसका?

पर, मैंने बीच ही में बात काटकर कहा—मेरे बैठने की कोई फिक्र न करो! मैं मजे में हूँ! हाँ, यह तो कहो—तुम्हे होता क्या है?

"मेरी हालत जानकर क्या करोगे, बेटा।"—बूढ़ी ने आँसू बहाते हुए कहा, "भगवान को तो सिर्फ 'उनकी' जरूरत थी! ले गए उनको! मुझे वह क्यों ले जाएँगे। मैं उनके कौन काम आऊँगी?"

'सुनो!'—मैंने आश्वासन के स्वर में कहा, "कोई अपनी इच्छा से न तो मरता है और न जीता ही है! अपने करम का फल तो सभी को भुगतना ही है।"

"हाँ, बेटा, सभी को अपने करम का फल भुगतना ही है। मैं भी वही भोग भोग रही हूँ। जैसा उस जनम में बोई थी, वही

आज काट रही हूँ। पर, बेटा, मेरी किशोरी ने किसका क्या बिगाड़ा था जो इस भरी जवानी में विधवा हुई। बाप का एक सहारा था, वह भी जाता रहा। मैं भी अंधी बिछावन पर पड़ी हूँ। कब पंछी इस पिंजड़ा से निकलेगा—कुछ ठिकाना नहीं है! फिर मेरी बिटिया की कौन देख-रेख करेगा? कौन इसे दो मुट्ठी चावल खाने को देगा? कौन इसकी इज्जत की रखवाली करेगा? मुझे तो और कोई बीमारी नहीं है, बेटा! मैं तो इसी चिंता में घुली जा रही हूँ। हाँ, एक यही दर्द है, बेटा!"

रोगिणी ने करवट बदली और एक गहरी आह भरी। फिर आप-ही-आप बोल उठी—मुझे अब जीने की कुछ आस नहीं है। किशोरी, देखा न, मेरी चिंता में कितनी घुल गई है! आह! बरफ के समान घुल गई, बेटा। इसका वह ढुल-ढुल बदन, बड़ी-बड़ी आँख, देखो, कटोरे में धँसी जा रही है। चिंता कितनी बला होती है। राम न करे, किसी को चिंता व्यापे।

बूढ़ी बोलते-बोलते मानों थक-सी गई! उसकी अवस्था देखकर मैं भी कुछ कम चिंतित न हुआ। खासकर किशोरी का भविष्य मुझे बड़ा अंधकारपूर्ण नजर आ रहा था। पर, मैं कहूँ तो क्या? सांत्वना देने के लिए भी मेरे पास कोई शब्द नहीं था। इतने में बूढ़ी फिर से बोल उठी—बेटा कब तक खड़े रहोगे? पैर पिराते होंगे! बड़ी दया की बेटा। अब रात भी अधिक हो चली है, घरवाले तुम्हें खोजते भी होंगे। भगवान तेरा भला करे! दूधों नहाओ पूतों फलो!

घर में अँधेरा भरा था, पर दीप में बत्ती तक भी शेष न बची थी। जिसे किशोरी जलाती! इसलिए, देखा, किशोरी लज्जा से गड़ी जा रही है, शायद उसे इस समय अपनी गरीबी बुरी तरह अखर रही थी। इसलिए मैंने अब वहाँ और ठहरना उचित न समझा। मैं कुछ तसल्ली दे, कुछ धीरज बँधा घर से बाहर निकला और आँगन में पहुँचा ही था कि, भीतर से किशोरी बोल उठी—जरा ठहर जाइए, सुशील बाबू आ रही हूँ।

और वह तुरत मेरे सामने आ पहुँची और निष्कपट हृदय से कृतज्ञता प्रकाश करते हुए बोली—तकलीफ हुई, सुशील बाबू! माफ करेंगे? क्या माफ न करेंगे?

"माफ की कौन सी बात है, किशोरी! अच्छा, माफ ही सही। अच्छा, अब चलता हूँ।"

"जाइए। पर, यह तो कहिए—मजदूरी की बात कब कहिएगा? आपका कर्ज मेरे सिर है। मैं इससे उद्धार पाए बिना...।'

"अच्छा, उद्धार का ही प्रबंध कर दूँगा, किशोरी! इसके लिए तुम इतनी व्यग्र क्यों हो रही हो?"

"जानते हैं सुशील बाबू! ऋणी कभी सुखी नहीं रह सकता। वह तभी सुखी हो सकता है जब उसका बोझ सिर से उतर जाय।"

"बस, यही न! अच्छा, अब जाने दो!"

मैं अंधकार में छिप गया। किशोरी मेरी ओर न जाने कब तक देखती रही। आज मुझे उसका उपकार कर कम प्रसन्नता न हुई।

१२

मेरे आलस्य-प्रिय स्वभाव में ठीक उसी दिन से अंतर पड़ने लगा जब मुझे किशोरी की माँ की देखभाल करने का अवसर मिला था। मैं दिन को भोजन के बाद बाहर निकल पड़ता, निकल पड़ता बड़ी आकांक्षा लेकर, कुछ सेवा-वृत्ति का भाव भरकर, उमंग में मैं किशोरी के घर पहुँचता। उस समय किशोरी या तो मैया के पैर दबाती या उसके लिए पथ्य तैयार करती। मैं प्रतिदिन जैसा ही वहीं—किशोरी के सामने बैठ जाता; केवल बैठता ही नहीं, हाँ, कुछ इधर-उधर की, कुछ रोगिणी के संबंध की और अंत में कुछ मनोविनोद की बातें भी चलतीं।

किशोरी और मुझमें—दोनों के सरल-स्वच्छ अंतस्तल में—एक-सी रागिणी बजती—वह मधुर रागिणी जो वसुंधरा की विभूति और विश्वात्मा का वरदान है। किशोरी—हाँ, स्नेहमयी किशोरी में चपलता न थी! कपट न था, कृत्रिमता न थी और न थी छल-छंद की करालिनी रूप-रेखा। वह सरल थी, भोली थी, ममतामयी थी, अजान थी, और सबसे बढ़कर—बाहर और भीतर—दोनों तरह से गरीबन था। उसके रूप में आसव था, आँखों में स्नेह, वाणी में मधु और ओठों पर स्निग्धोज्ज्वल हास्य-रेखा। उसका हृदय संगमर्मर-सा स्वच्छ, जान्हवी-सा पवित्र, अनंत-सा विशाल, सागर-सा गंभीर और शिशु-सा सुकुमार था। मैं उसके रूपासव का प्यासा था वा नहीं—नहीं कह सकता। हाँ,

उसकी भोली चितवन और आंतरिक आकर्षण का अनन्य प्रेमी मैं अवश्य था और वह भी, संभव है, मुझे संरक्षक के रूप में, अपनी श्रद्धा और स्नेह के मोहक तंतुओं से आबद्ध करने का सफल प्रयास किया करती।

एक दिन की बात है। रोगिणी ने लाड़िली कन्या को देखा—देखा उसके सौम्य किंतु सहास्य वदन को, देखा उसकी स्नेह-भरी आँखों को, और देखा उच्छ्वसित किंतु उल्लास भरे हृदय को, रोगिणी की मानसिक पीड़ा समूल विनष्ट हुई, मुख पर कुछ प्रसन्नता फूट पड़ी, कुछ आँखों से हर्ष के एक दो मोती भी टपके। मैंने भी रोगिणी को हर्षित देखा, किशोरी ने भी उसे उसी रूप में देखा। मुझे तो अपार प्रसन्नता हुई अपनी सफलता पर और किशोरी को हुई मेरी प्रसन्नता को देखकर। वृद्धा ने एक बार मेरी ओर देखा और मैंने किशोरी की ओर। मानों मैं वृद्धा का हृदय आँखों से पढ़कर आँखों के द्वारा ही किशोरी को पढ़ा रहा था। किशोरी ने पाठ समझा वा नहीं, मैं नहीं कह सकता किंतु मैंने वृद्धा के हृदय को अक्षरशः पढ़ लिया था। वृद्धा ने मेरी ओर फिर भी दृष्टि फेरी, मैंने सिर नीचा कर लिया, फिर उसकी दृष्टि किशोरी को ढूँढ़ने लगी और मैं भी किशोरी के मुँह की ओर देखने लगा। दोनों ओर की दृष्टियों में किशोरी झूल रही थी मानो किशोरी का रूप-लावण्य दोनों दृष्टियों में परिपूर्ण हो गया था और किशोरी? आह, वह म्लान मुख किए, विवर्ण हो, सुराही-सी गर्दन झुकाए अचल-अटल-सी पड़ी थी।

मैं चंचल हो उठा, हृत्तंत्री बज उठी, कुछ लज्जा भी बोध हुई। मालूम पड़ा—मैंने डाका डाला है, सेंध मारी है, किसी का सर्वस्व . . ।

मैं सोच ही रहा था कि वृद्धा धीरे से, पर स्पष्ट शब्दों में बोल उठी—बेटी।

"माँ।"—उल्लसित-हृदया किशोरी का छोटा-सा उत्तर था।

"जरा इधर बढ़ आओ, मेरी तारा।"

"क्यों माँ?"—आगे बढ़ती हुई किशोरी बोली।

बूढ़ी कुछ देर तक मूक रही। मालूम पड़ता था—वह कुछ बोलना चाहती है। पर बोली गले के बाहर मानो निकल ही नहीं पाती। चाहे अकथन समझकर वा अप्रासंगिक समझकर अथवा अनौचित्य समझकर। इधर मैं भी नीरव था और किशोरी भी। पर, यह निस्तब्धता अधिक देर तक न रही; वृद्धा ही बोल उठी—बेटा सुशील!

"क्या कहती हो?"

बूढ़ी ने खाँसने के बाद कहना प्रारंभ किया—बेटा, जानते हो, तुम मेरे धरम के बेटा हो और किशोरी मेरे पाप की किशोरी है।

"क्यों नहीं?"—मैंने स्वीकार के स्वर में किंतु स्पष्टतापूर्वक कहा, "यह तुम्हारी बड़ाई है।"

"और जानते हो, बेटा, मैं जात की ओछी हूँ और तुम जाति के ऊँचे हो। हो न, सुशील?"

वृद्धा ने प्रश्न के रूप में पूछा और मेरी ओर देखती हुई उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। मैं क्या उत्तर देता!

"हाँ, बोलते चलो, बेटा!'—वृद्धा फिर बोल उठी।

"हाँ, सच है!'—मैंने कहा।

"और सुनो।"—बूढ़ी कहने लगी, "मैं गरीब हूँ और तुम, सुखी-संपन्न हो—धनी हो।"

"धनी-गरीब हृदय से होता है कुछ धन रहने वा न रहने से नहीं। हाँ, अधिक बोलना ठीक नहीं है, बीमारी खराब......।"

"अब खराब होने वा न होने से ही क्या?"

वृद्धा नीरव थी कुछ काल तक फिर बोल उठी—बेटा, मुझे अब जीने की कुछ भी हवस न रही। चालिस को बहुत पहले पार कर चुकी हूँ। तुमने इस आखिरी बेर में मेरी बड़ी सेवा की है जिसके लिए मैं खुद शरमा रही हूँ, बेटा; पर, अब शरमा कर ही क्या करूँगी? हाँ, जानते हो, बेटा, मैं मरने-मरने तक पहुँचकर भी क्यों नहीं मरती?

बूढ़ी चुप हो गई, मुझसे कुछ उत्तर देते न बना। फिर वह कहने लगी—तुम्हें अभी दुनियाँ का अनुभव नहीं है, बेटा। मरना भी सबका सुखद नहीं होता; पर मैं बड़ी खुशनशीब हूँ, बेटा, जो आखिरी दम तुम्हें पाकर मैं जिंदगी के सारे दुखों को भुला सकी हूँ। फिर भी दिल पर एक बोझ है...आह...!

बूढ़ी की यह आह बड़ी कष्टकर थी! वह फिर भी चुप हो गई।

"हाँ, बाबू, तुमसे मेरी एक भीख है! आखिरी दम की भीख !"—

बूढ़ी ने दयार्द्र होकर कहा।

"वह कौन-सी ?"

"क्या दोगे ?"

मैंने हँसकर कहा—क्या तुम प्रण ही करा लोगी ? यदि यही है तो मुझे प्रण हो......।

"नहीं-नहीं; राम-राम ! तुम जैसे सुबोध बच्चे से प्रण कैसा ?"

"फिर कहो न !"

बूढ़ी चुप हो गई और बड़ी देर के लिए। मैंने एक बार किशोरी की ओर निहारा और उसने भी मेरी ओर ! पर, दोनों का हृदय पहेली सुलझाने में व्यस्त था—कौन किसका उत्तर दे ! मैंने उसकी ओर देख मुस्किरा दिया और उसने भी मुस्किराने की चेष्टा की। इधर आँखों-ही-आँखों में बातें हो रही थीं। इसी समय बूढ़ी बोल उठी—आज मैं किशोरी को तुम्हारी ही देख-रेख में छोड़े जा रही हूँ। इतने दिनों तक मैं बिछावन पर मौत का नजारा देखती रही सही, पर मौत क्यों आती ! अब जब चाहूँ, मैं शांत होकर मर सकूँगी। हाँ, सुनो, बेटा !

"सुन लिया ! कोई कष्ट न होने दूँगा।"

दुख-सुख तो सगे भाई हैं, सुशील ! उसके लिए तो किसी को घबराना ही नहीं चाहिए। और न मैं इसके लिए तुमसे कुछ कही

रही हूँ। मैं तो यही कहती हूँ कि, इसकी इज्जत को बचाना। अपनी शरण में आए की लाज रखना।

फिर किशोरी की ठुड्डी उठाते हुए उसने कहा—"बेटी, आज से तुम्हारे माँ-बाप, जो समझो, यही हैं। तुम इनके कहे को करना। और देखना, बेटी, सबसे बढ़कर अपनी इज्जत को दुनियाँ की सबसे बड़ी चीज समझना। मंजूर करती है, बेटी!

किशोरी के गाल आँसुओं से भींज रहे थे। वह सिसक-सिसककर रोती हुई बोली—हाँ, मंजूर है, माँ!

"अच्छा!"—बूढ़ी बिछावन से उठकर बैठती हुई, बोली—"आह, क्या अच्छा होता, मैं धनवान होती और एक ही जाति की!"

फिर उसने हम दोनों की पीठ पर हाथ रखते हुए कहा—तुम दोनों एक दूसरे के लिए कल्याणकारी हो।

मैंने देखा—उसकी आँखों से स्नेह का सिंधु उमड़ पड़ा। वह भावावेश में बड़ी देर तक शांत पड़ी रही।

कुछ देर के बाद फिर बोली—आज मुझे खूब भूख लगी है। हाँ, आज रविवार है न! अच्छा, देखो तो बेटी, दही है न? हाँ, मिठाई भी तो होगी? खिलाओ, बेटी, कुछ! अब फिर खाने को न आऊँगी। ला दे एक-एक लड्डू!

किशोरी दूसरे कमरे से दो लड्डू ले आई। बूढ़ी ने एक मेरे हाथ से और दूसरा किशोरी के हाथ से खाया और प्रसन्न हो बिछावन पर पड़ रही। किशोरी बाहर जाने को छटपटा रही थी।

उस दिन वहाँ बैठे-बैठे, बात-की-बात में चार घंटे निकल गए थे। मैं भी घबरा उठा था। इसलिए मैं भी उठ खड़ा हुआ। किशोरी तो मुझसे पहले ही निकल गई थी और मैं पीछे।

घर से बाहर आने पर चंद्र-ज्योत्स्ना में किशोरी का मुख-मंडल दीख तो पड़ा, कितना प्रफुल्ल! कितना सौम्य! पर, मैं क्या सोच रहा था, पता नहीं।

१३

मैं घर की ओर चल तो पड़ा, पर राह में मुझे ऐसा बोध हो रहा था कि मुझपर कोई असह्य बोझ आ पड़ा है, पाँव भारी हो चले हैं और शरीर में शिथिलता-सी बोध हो रही है। मैं तो चल रहा था, पर पाँव आगे को न उठते थे। जो हो, किसी तरह मैं दर्वाजे पर आ पहुँचा। पर, आह, दर्वाजे पर ही ऐसा बोध हो रहा था कि यमराज का मेरे घर डेरा पड़ा है। मृत्यु की कराळिनी छाया स्पष्टतः दीख पड़ रही थी मेरी आँखों के सामने! उफ्, कितनी भयंकर थी वह छाया!

मैं भीतर को ओर जा ही रहा था कि उधर से कई कंठ से रोने की आवाज आई और वह रुदन मृत्यु-सूचक ही था। मैं घबराकर आँगन की ओर दौड़ पड़ा। देखा—लोगों की काफ़ी भीड़ लगी है, सभी की आँखों में आँसू उमड़ पड़े हैं और मुँह पर उदासीनता और चाची के गुणानुवाद की चर्चा छिड़ गई है देखते

ही में सन्न-सा हो गया! उस समय सच कहता हूँ, न रोते ही बनता था और न दिल को शांत करते ही। इसी समय पास की एक अधेड़ स्त्री ने जिन्हें मैं चाची ही कहा करता, मुझे अपनी छाती से चिपकाकर सांत्वना देते हुए कहा—दीदी मेरी चल बसी, मेरे मुन्ना! वह मुझे साथ करके भीतर गई। वहाँ तो अजीब समा था! चाची ज्यों-की त्यों बिछावन पर पड़ी थी, मुँह पर वही प्रभा थी—वही प्रफुल्लता किंतु आँखें अर्द्ध मुद्रित और ओठ मुर्झाए हुए। भीतर बड़ी भाभी थीं एक ओर और दूसरी ओर थीं छोटी भाभी और पास-पड़ोस को कुछ स्त्रियाँ! बड़ी भाभी ने लपककर मुझे अपनी गोद में बैठा लिया और लगीं चाची का नाम ले-लेकर रोने। बीच-बीच में चाची के गुणों की चर्चा भी कर लेतीं। मैं भी उस बहाव में बह चला, मेरी आँखों से आँसू मानो बाँध तोड़कर फूट पड़े। वहाँ तो सभी रोनेवाले ही ठहरे, फिर कौन किसको धीरज बँधावे। उस दिन बड़ी भाभी का बिलख-बिलखकर रोना और भाव-भंगी बता रही थी कि वह मानो चाची के वियोग में बच ही नहीं सकतीं। मानो चाची उनके प्राण ही काढ़े लिए जा रही हैं। वे किसके बल पर जी सकेंगी कौन रहा इनका आधार!

पर, उनकी आत्मीयता हृदय की थी वा वाह्य—कह नहीं सकता। किंतु दर्शकों की दृष्टि में यही बोध हो रहा था कि भाभी की भक्ति और श्रद्धा चाची के प्रति कुछ कम न थी!

दिन ढलने के साथ कुहराम भी शांत हो चला। चाची की

अर्थी बड़ी सजधज से निकली। गाँव के अधिकांश लोगों ने साथ दिया। मैं भी भागने को तैयार था, पर छोटी भाभी ने मुझे रोक रखा। मैं उनके कमरे में, उनकी गोद में मुँह छिपाकर फूट-फूट-कर रो रहा था! उफ्, उस दिन को क्या कहूँ। आज ही मैं अपने को इस विश्व में सूना पा रहा था। जिसके बल पर मैं सोने के संसार में अभी तक चहकता रहा उसीके बिछोह में अब वह विश्व विभूति-हीन, एक स्वप्निल संसार-सा नीरस बोध होने लगा।

धीरे-धीरे एक-एक कर दिन बीतने लगे। भैया ने चाची की श्राद्ध-क्रिया भी खूब उछाह के साथ संपन्न की। उनकी आत्मा की शांति के लिए तो ब्रह्म-भोज होना ही चाहिए था। सुरेश भैया भी अपना पढ़ना छोड़ कलकत्ते से आ गए थे। मँझली भाभी भी अपने मायके से आ गई थीं और संयोगवश मँझले भैया भी पर्य्यटन कर घर वापिस आ गए थे।

कुछ दिनों तक खूब चहल-पहल रही। आमंत्रित संबंधियों, स्वजनों और मित्रों की भीड़ में मैं अपने को भुला बैठा था। समय आया, धीरे-धीरे एक-एक कर सभी आमंत्रित व्यक्ति चले गए—फिर भी आनंद-उल्लास में कोर-कसर न रहा। पर, यह उल्लास क्षणिक था! केवल धोखा-मात्र! घर पर सभी कोई थे, पर मेरा 'कुछ' और कहीं था। कभी-कभी मैं उसके बिना एकांत में चोर की भाँति एक-दो आँसू बहा लेता फिर अपने आँसुओं को आप पोछकर जी ठंढा करता! इस तरह मैं घुल गया! शरीर मेरा खिन्न हो गया—आकृति फीकी पड़ गई।

एक दिन घर पर एक अघटनीय घटना घट गई—वह वास्तव में बड़ी ही मर्म-स्पर्शनी और विषाद-पूर्ण थी। बात तो बड़ी मामूली-सी थी—बड़ी ही तुच्छ, पर, उसका रूप बड़ा भयंकर हो चला था। बात यह थी कि मँझली भाभी के लड़के गिरीश और बड़ी भाभी के लड़के लल्लन (राजेश्वर) में बाल-स्वभाव के कारण आपस की गुत्थम-गुत्थी हुई थी। राजू रोता-रोता माँ के पास नालिस करने को गया। राजू इन दिनों सोख-सा हो गया था—माँ की छाप उसपर कुछ गहरी पड़ चली थी और वह सदा माँ के पास ही रहा करता था। वह माँ के पास पहुँचकर खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। बड़ी भाभी बिगड़े दिल की तो थीं ही—टूट पड़ीं मँझली भाभी पर! इनकी सात पीढ़ियों के नाम गिना गईं। गाली में मारनेवाले को साँप से डँसवाया, स्मशान घाट पर पहुँचवाया। कलेजा काढ़कर खाया—और न जाने कितने तरह से अभिशाप कह सुनाए। नाम पकड़कर जितनी तरह की गालियाँ वह विसात् से लाई थीं—एक ही साँस में उन्होंने उगल डालीं। मँझली भाभी पहले तो तरह देती रहीं, पर, उनका बकना खतम न हुआ। फल यह हुआ कि, मँझली भाभी से भी न रहा गया। रहा जाता कैसे? कौन ऐसी माँ होगी जो अपनी आँखों के सामने अपनी संतान को, बात से ही सही, साँप से डँसवाना पसंद करेगी! कौन माँ अपने लड़के का कलेजा काढ़कर किसी को खाने देगी? माँ अपनी संतान की अहित-कामना किसी के मुँह से सुन नहीं सकती—सुनकर बर्दास्त नहीं कर सकती। यही

कारण था कि मँझली भाभी ने बड़ी नम्रता के साथ उनसे कहा—गिरू भी तो आपका लड़का ही ठहरा, दीदी ! क्यों इसका कलेजा खा रही हैं ? बच्चे से तो भूल ......।

बड़ी भाभी बीच ही में बात काटकर डँपट पड़ीं—भूल ? भूल नहीं है, चिकने मुँहवाली ! यह तो ढंग है तुम लोगों का मेरा घर उजाड़ने का ! अगर यही करना है तो सीधे मुझे इस घर से गर्दन पर हाथ रखकर निकाल देती ?

"इसमें निकालने की कौनसी बात है, दीदी"—मँझली भाभी शांत होकर बोलीं, "भगवान के नाम पर आप यह क्या कह रहीं हैं ?"

"भगवान मेरी जो-जो गत न करे, जो-जो बात न सहाए ! मैंने उन मुँहझौंसे से कई बार कहा, पर कौन सुनता है ? वहाँ तो सभी एक दूध के सने हैं, एक ही नाई के मुड़े हैं, पराई तो मैं ठहरी और पराया तो यह अभागा है। पराया ही ठहरे हमलोग, तब क्यों नहीं जहर पिला देते ! बंदूक निकालकर क्यों नहीं गोली चला देते ! दूसरे का सुंदर मेरे कौन काम आवेगा ! मेरा कुरूप ही मेरी गोद का खिलौना है। आज तो मुँहझौंसे (पति) के मुँह में कालिख पोत दूँगी—हाँ, कालिख पोत दूँगी। सिरफ बेटा जनमाने का सौख लगा था, न कि उसे पालने का भी ! आज उसने अगर मेरी कही न मानी तो मैं आज इस घर में आग लगा दूँगी—और कभी इस घर में भूलकर भी पाँव न रखूँगी। मेरा बसाया सोने का घर सब मिलकर राख करना चाहता है !!

इसी तरह का अंट-संट न जाने कब तक बकती रहीं, पर मँझली भाभी ने जवाब में एक शब्द तक न कहा। वह अपने घर मे आ गिरू को लेकर मौन-रुदन करने लगीं; पर बड़ी भाभी के क्रोध का पारा अब भी ऊँचा ही ऊँचा उठता जा रहा था। इसी गर्मी में वह कभी तो घर से निकलने की धमकी देतीं, कभी बड़े भैया का कलेजा काढ़ने लगतीं और कभी वह सभी को फर्क कर अपना घर बसाना चाहतीं। उनका तुमुल नाद इतना भयंकर हो चला कि दर्वाजे पर सुननेवालों के कान भर गए। सभी को बड़ी भिन्नाहट हुई। मँझले भैया से न रहा गया। वह बड़े भैया से बोल उठे—जाकर, भैया, शांत कर दें भौजी को! क्या वे हल्ला मचा रही हैं सभ्यता से बाहर होकर!

अभी तक बड़े भैया आपही गुस्सा पीकर शांत पड़े हुए थे, उसपर मँझले भैया की झुँझलाहट काम कर गई। वह भीतर को चल पड़े, पर शांति के साथ, गुस्से को छुपाए हुए। बड़ी भाभी देखते ही टूट पड़ीं उनपर। सौ पुरखाओं के नाम गिना गईं—एक-एककर गालियों की बौछार-वर्षा कर दी। अब भैया से सहा न गया। सहने की भी तो एक सीमा होती है। उन्होंने एक हाथ से नागौरी जूता खोल और दूसरे हाथ से उनके केश पकड़े और ऊपर से लगे तड़ातड़ जूते बरसाने। एक ही साँस में १०-१५-२० दे मारे! भाभी तो चिल्ला-चिल्लाकर जमीन आसमान को थर्रा रही थीं। इसी समय मँझले भैया ने आकर उनका हाथ पकड़ा, उधर छोटी भाभी बड़ी भाभी का हाथ पकड़कर वहाँ से

अलग ले जाने लगीं। फिर भी बड़े भैया का रोष ठंढा न हो रहा था। कहते थे—जान ले लूँगा हरामजादी की। समझ रखा है कि मैं बड़े घर का आला अफसर हूँ। बड़े की बेटी बनने चली है शैतान! सुनते-सुनते कान भर गए थे! चुड़ैल को मौत भी नहीं आती! आदि आदि।

उधर बड़ी भाभी भी दम कसतीं—नहीं मरती हूँ तो क्यों नहीं जहर दे देते! आज धधकती छाती सभी की ठंढी हुई न! इसी-लिए तो यह सिटपिट थी! मैं बँधवाऊँगी—बँधवाऊँगी घर भर को देख लेना! बड़े की बेटी हूँ कि नहीं, पीछे मालूम होगा।

इतना सुनना था कि भैया झपट पड़े उनपर! मँझले भैया रोकते रह गए, फिर भी तड़ातड़ आठ-दस रसीद कर ही दिए। पर, इस बार ऐसी सांघातिक मार पड़ी थी कि वह जमीन पर घुलट गईं—संज्ञाहीन होकर—जड़-सी।

यह आग उस दिन दब तो गई अवश्य; पर, कौन कह सकता था कि दबी राख के भीतर उसकी छोटी-छोटी चिनगारियाँ फिर से पनप रही हों। यह आग शांत होने की अपेक्षा धीरे-धीरे आगे चलकर पनपने लगी! यह है नारि-हृदय की अज्ञात पहेली!

१४

घर पर अशांति का उद्भव हो चुका था, घर की श्री प्रभाहीन हो चुकी थी। पारिवारिक कलह का विकराल रूप तांडव नृत्य कर

रहा था! बड़ी भाभी घर को शांत करके ही दम लेना चाहती थीं। बड़े भैया का हृदय भी अशांत हो चला था। उनकी बुद्धि 'तिरिया-चरित्र' के सामने कोई काम न कर रही थी। उनके शासन के अभाव में बड़ी भाभी पहले से निरंकुश हो ही चुकी थीं। फिर अभ्यासगत प्रकृति को सुधारना कुछ सहज नहीं था! क्योंकि अभ्यास प्रकृति का छोटा भाई है न!

इधर बड़े भैया के मुख पर सदैव एक गंभीरता बनी रहती! उनमें न तो वह सरल हास्य ही रह गया था न वह चमक ही; न मुख पर दीप्ति थी और न आँखों में वह स्नेह! वह अब सदा खिंचे-से रहते; लहरें उनके हृदय को डावाँडोल करतीं; पर, सभी भीतर-ही-भीतर। फिर भी उनकी अवस्था में बड़ा अंतर पड़ गया। उन्हें देखकर सभी स्तब्ध थे! मँझले और छोटे भैया इस प्रश्न पर मन-ही-मन विचार करने लग गए।

अंत में दोनों का यही निश्चय हुआ कि कुछ दिनों के लिए मँझली भाभी को मायके भेज दिया जाय और हमलोग भी यहाँ से टल जायँ! ऐसा होने से झगड़ा आप ही शांत हो जायगा। बड़ी भाभी घर की देख-रेख करेंगी, बड़े भैया अपने काम-काज में मन देंगे। पर, आह, मैं? अभागा मैं?—शायद मेरे लिए उन लोगों ने कुछ निश्चय न किया इसलिए कि बड़े भैया इस समय आप ही अशांत हो रहे थे?

विचार काम में लाया गया। जानेवाले सभी सभी ओर चले गए। पर, मैं उसी रूप में रहा जिसमें पहले था। मेरे भाग्याकाश

में अब भी वही सघन घन-घटा मँडरा रही थी—और मैं उसे ही देख-देखकर केकी-सा नग्न-नर्त्तन कर रहा था। यह विलास का नर्त्तन न था, विभूति का नर्त्तन न था, था मेरी अहमन्यता का, था मेरी दासता का—दीनता का और सबसे बढ़कर था मेरे दुर्भाग्य का—उस रमणीय दुर्भाग्य का जिसके कारण कितने घर उजड़ जाते हैं, उजड़कर मिट्टी में मिल जाते हैं, जिसके कारण फूल खिलकर भी—अपना सौरभ विश्व के अंचल में बिखेरकर मुर्झा जाते हैं, मुर्झाकर वृंत से झड़ जाते हैं, वायु उन्हें उड़ाकर एक स्थान से दूसरे स्थान को कर देती है, सूर्य अपनी रश्मियों से उनकी हड्डी-हड्डी तक झुलसा देता और अंत में उनके अस्तित्व तक का शेष नहीं रह जाता। यही है सांसारिक प्रपंच! और इसी प्रपंच के पचड़े में मैं अभी तक पछाड़ खाकर पड़ा था।

चाची की श्राद्ध-क्रिया से दोनों भाइयों के जाने तक पूरे तीन सप्ताह बीत गए। ये अवश्य ही मेरे लिए सुख के दिन थे! पर, आह! सुख के दिन स्थायी नहीं हुआ करते, विद्युच्छटा के समान सर्र से निकल जाते हैं। अब उस सुख की एक स्मृति अवशिष्ट थी और उसे ही लेकर मैं चक्कर काटने में व्यस्त हो पड़ा।

एक दिन किशोरी से मिलने की उत्कंठा में मस्त होकर भटकते हुए उसके घर की ओर जा रहा था कि इतने में किसुन ने जाते हुए मुझे देख लिया। मैं उसे देख न सका था, इसलिए वह व्यंग के रूप में बोल उठा—अरे यार, किस धुन में बढ़े जा रहे हो? कुछ इधर का भी ख्याल है! वाह! इतने कठोर और नीरस निकले!

मैंने सिर उठाकर देखा। देखा—मेरी ओर ही किसुन बोलते हुए आ रहा है। आँखों में वही व्यंग की हँसी और ओठों पर क्रूर मुस्कान है। मैंने उसे देखते हुए कहा—भाई, इधर तुम जानते ही होगे कि मेरी चाची चल बसीं! घर पर दोनों भैया आए हुए थे, उन्हें छोड़कर आना जरा... ।

"और यह न कहो कि अब तुमसे मेरी दोस्ती ही कैसी? होगी कैसे? आँखों का स्नेह तो किसी दूसरे के दामन पड़ा! फिर मुझे पूछने लगे क्यों? क्यों?"

जिज्ञासा भरे स्वर में किसुन बोल उठा। वह बोलता ही गया; पर मुझे उत्तर तक देने का अवकाश न दिया।

"जानते हो, सुशील, वह बेचारी सूखकर काँटा हो गई है। आह, उसकी माँ उसी दिन मर गई जिस दिन तुम उससे आखिरी मिल आए थे! पर, भई, तुम बड़े ही निठुर निकले! कभी एक घंटे के लिए भी उसकी तुमने सुध न ली। यही प्रेम की पहचान है, सुशील? इसी तरह अपने प्रेम का पालन कर सकोगे?"

"कैसा प्रेम? कैसा प्रेम-प्रतिज्ञा-पालन?"—मैंने रोष में कहा, "क्या अनाप-सनाप बकते हो? आदमी हो या गधे!"

मैं मन-ही-मन रोष से आपही जलभुन रहा था। पर किसुन पर नहीं! कारण था, मुझे तो रोष उसपर हो आया जिसके बीच प्रतिज्ञा-पालन की बात थी! पर, इसने यह कैसे जाना? अवश्य किशोरी से ही इसने सुना होगा। तो क्या किशोरी इतनी नीच है? क्या वह किसुन के साथ गुप्त प्रेम करती है? नहीं, वह तो

दुःखिनी है, निराश्रया है। आह, माँ थी, वह भी चल बसी। किसके बल पर यौवन का कोलाहलपूर्ण संसार काट सकेगी वह! आह! उसकी क्या दशा होगी? कैसे उसने अपनी माँ का श्राद्ध किया होगा? सहायता किसने दी होगी उसे! एक ही साथ न जाने कितने प्रश्न उठे—विलीन हुए। कभी करुणा से मेरा हृदय दयार्द्र हो उठता, कभी समवेदना से प्रेरित हो आँखों से आँसू और मुँह से आह निकलती, कभी गुप्त बात के प्रकट होने के कारण उस पर रोष होता और इतना प्रबल कि इच्छा होती—उसके जीवन का अंत कर दूँ। इतने में ही वह बोल उठा—

"गधा ही समझो, भई, मुँह थोड़े ही पकड़ूँगा। पर, तुम्हारी तक़दीर बड़ी अच्छी है, तभी तो तुम्हारी तीरे-नजर कहीं जाकर अटकी है! इसमें तुम्हारा दोष ही क्या? अच्छा, भई, जरा मुझे भी चूरन का लटका चखाना, जरा . । समझे, बच्चू!"

यह जले घाव पर नमक का छिड़काव था, जिसे सहन करना मेरे लिए असंभव हो उठा। इसलिए, मैं डपटकर बोल उठा—तुम मनुष्य नहीं, सचमुच नर-पिशाच हो—नर-पिशाच हो, किसुन! कैसे दिल के ओछे हो! छिः, पराई बहू-बेटियों पर ऐसी नजर...।

"अहा। स्वर्ग के देवता उतर आए हैं।"—मुँह बनाकर किसुन ने कहा, 'मैं नहीं जानता था! महात्माजी, क्षमा कीजिएगा कहीं आपके मुँह से एकाध शाप निकला कि इस दिल को लेकर मैं कहीं का नहीं रहूँगा। दुहाई सत्य की!"

यह थी उसकी व्यंग-वर्षा।

"रखो अपने चोचले अपने साथ !"—मैंने झल्लाकर कहा, "महात्मा मैं क्यों होऊँ ? महात्मा तो और कोई है ! छिः ....।"

मुझे उसके मुँह से और कुछ सुनने की साध न रही। मैं अन्यमनस्क हो वहाँ से चल पड़ा। किसुन उस जगह से कितना बोलता-बिगड़ता रहा ; पर, मैंने एक भी उत्तर न दिया। रास्ते में आगे बढ़ने पर इच्छा हुई कि अब किशोरी से कोई संपर्क न रखूँगा। उसका हृदय इतना कलुषित है कि एक गुप्त बात को वह छिपाकर न रख सकी। मेरा हृदय घृणा, रोष, उद्वेग और विषाद से अभिभूत हो गया। मैं कुछ भी निश्चित न कर मोड़ पर, आसानी से आप ही आप जिधर डेग बढ़ गई, उधर को ही चल दिया ! हाँ, चल दिया हृदय पर बोझ लादकर ! पर, सहसा मन में दया का संचार हो आया, कुछ सात्विक वृत्ति सजग हो आई। सोचने लगा— इसमें उसका क्या अपराध ! किसुन केवल अनुमान के बल पर भी तो मुझपर व्यंग कस सकता है। फिर क्यों एक निरपराधिनी को यंत्रणा दी जाय !

मैं जिधर को जा रहा था, सहसा रुक गया और क्षण-भर के लिए मैं किकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहा। पर, मैं तुरत ही मुड़ गया उधर जिधर किशोरी का घर था। आकर मैंने दर्वाजा खटखटाया, आवाज दी। किशोरी ने आकर दर्वाजा खोल दिया। आह ! दर्वाजे पर ही किशोरी की प्रभा-हीन मुख-श्री दीख पड़ी। वह करुणा की मूर्त्तिमयी प्रतिभा थी ! वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रो पड़ी। मेरे हृदय को जोर का धक्का लगा। मेरे विचार बदल

गए। उसके प्रति दया हो आई। उस समय हम दोनों निष्प्रभ थे अवाक् थे।

"किशोरी, रोने से लाभ क्या? उसको शांति मिली। इसके लिए रोने का काम नहीं!"—मैंने सांत्वना के स्वर में कहा।

उसके आँसू मानो रुक-से गए। वह उच्छ्वसित कंठ से बोली—हाँ, सुशील बाबू अब रोकर करूँगी ही क्या! पर, आप कितने सूख गए हैं, सुशील बाबू! चाची के मरने से आप भी बड़े झंझट में रहे!

"झंझट तो कुछ नहीं किशोरी! भैया तो मालिक हैं ही! पर, मुझे खेद है, मैं तुम्हें देख तक न गया! हाँ, तुमने खबर तक न दी क्यों? हाँ, मेरा अपराध!

मैंने देखा—मेरी बातों से किशोरी के मुँह पर उदासीनता का रंग और भी गहरा हो चला। वह बड़ी गंभीरतापूर्वक किंतु सरल हृदय से बोली—आप किसी कारण से न आ सके तो इसमें आपका अपराध कैसा! फिर भी उस हालत में जब आप खुद अपने घर के काम में फँसे थे!

वह कुछ देर तक न जाने क्या सोचती रही फिर बोल उठी—हाँ, आइए भीतर सुशील बाबू! कब से खड़े रहे!

वह आगे बढ़ी और मैं उसके साथ चला। चटाई बरामदे मे पड़ी थी। एक ओर मैं बैठ गया और दूसरे सिरे पर वह बैठ गई।

उसने एक-एककर सभी बातें कह सुनाईं। किस तरह उस दिन मेरे जाने के बाद ही उसकी माँ मरी, किस तरह वह विक्षिप्त

दशा में पड़ी रही; किस तरह उसकी सहायता के लिए अचानक किसुन पहुँच गया, किस तरह श्राद्ध-क्रिया की गई और अब वह किस तरह दिन काट रही है। अपनी सारी घटनाएँ, तस्वीर-जैसी, एक-के-बाद दूसरी, मेरे सामने रख दीं! और उसके बाद उसने कहा—आप, सुशील बाबू ऐसा न समझें कि मैं आपको भुला बैठी थी! भूल सकती हूँ कभी आपको? कितनी नमकहराम समझी जाऊँगी मैं? आपने मेरी माँ के लिए क्या नहीं किया? पर, दुर्भाग्य।

उसने एक गहरी आह भरी! मैं चुपचाप नीचे सिर किए बैठा था! मैं उसकी विचार-धारा में बहा जा रहा था! सचमुच उसकी विशाल हृदयता पर मैं लज्जित था! वह फिर बोल उठी—

आप इतने उदास क्यों हैं, सुशील बाबू! आपकी चाची आपको छोड़कर चली गईं, कब तक आप उन्हें रोके रख सकते थे! मरना तो निश्चित है ही। फिर निश्चित बात के लिए सोचना कैसा! फिर भी आप-जैसे पुरुष को?

मैं मन-ही-मन सोचने लगा—देखो, एक स्त्री यह है-निराश्रया, पर कितना अटूट धैर्य है इसके हृदय में?—उसके स्नेहपूर्ण वचनों से मुझे बड़ी तृप्ति मिली। जहाँ मैं उसकी उपेक्षा करने चला था वहाँ उसके प्रति स्नेह हो आया!

वह फिर कहने लगी—माँ की वह बात मुझे याद है, सुशील बाबू; मैं उसे भुला नहीं सकती! पर, मैं बड़ी पापिन हूँ—बड़ी नीच!......पर, अब क्या? एक बार की भूल जन्म-भर पीछा करती है। मैं अपना पल्ला बचा न सकी। मुझे सराध (श्राद्ध) के

लिए किसुन बाबू की सहायता मंजूर करनी ही पड़ी। पर, नहीं; किसुन बाबू ने एक तरह से मुझे मजबूर किया उसे लेने को! माफ कीजिएगा, सुशील बाबू, गरीबी एक बुरी बला है!

"पर, लाख गरीबी होने पर भी मनुष्य, यदि चाहे तो, अपने प्रण पर अटल रह सकता है! अपने को बचा सकता है।"—मैंने आवेश में कह डाला।

"ठीक कहा। बचानेवाला अपने को बचा ही लेता है। पर, मुझसे ऐसा न हो सका। हो सकता कैसे? उसके लिए हृदय भी तो उतना ही बड़ा चाहिए। और वह मैं पाती कहाँ?"

मैंने उसकी वास्तविक परिस्थिति की ओर कुछ भी विचार न किया। मेरा रोष भड़क गया। प्रतिहिंसा का भाव सजग हुआ। मुँह की आकृति ने पलटा खाया—भवें तन गईं और क्रुद्ध होकर मैंने कहा—औरतों की चाल औरतें ही जानें या उनको गढ़नेवाला विधाता ही।

इसके बाद मैं और कुछ बोलना ही चाहता था कि उसके हृदय की आग भभक उठी और वह सरोष किंतु शांत स्वर में बोली—आप और अपमानित न करें। अपमानित करके करेंगे ही क्या? पर, आप जैसा मुझे समझ रहे हैं मैं वैसी हर्गिज नहीं। आप अपने विचार को पलट दीजिए।

"तो क्या तुमने मेरे विषय में किसुन से कुछ नहीं कहा है? क्या यह उचित है कि किसी की गुप्त बात किसी पर प्रकट कर दी जाय?"—मैंने बिगड़कर पूछा।

किशोरी हँस पड़ी ठहाका मारकर।—"आह ! इसीलिए आप इतने लाल-पीले हो रहे थे ?"—उसने हँसते हुए कहा,—"यहाँ तो कुछ गुप्त बात थी ही नहीं—फिर ऐसी कौन-सी गुप्त बात थी जो न कहना चाहिए था ! हृदय सच्चा होना चाहिए। व्यवहार सच्चा होना चाहिए। सुशील बाबू ! आप इसी पर फिर से विचार कीजिए।

"क्या वह गुप्त बात न कही जायगी जो तुम्हारी माँ ने हम लोगों के बीच कही थी ?"

"यही न कि आप मेरी देख-भाल करेंगे ?"

"हाँ।"

"तो यह कौन-सी गुप्त बात है ! क्या अपराध है इसके कहने में ? यह तो सच्ची बात है और सच्ची बात हर घड़ी हर हालत में कही जा सकती है ? इसके लिए आपको दुखी न होना चाहिए, सुशील बाबू ! मनुष्य का हृदय उदार होना चाहिए।"

मैं अब भी रोष में था किंतु मैं उसका प्रतिवाद न कर सका। मैं बिना कुछ कहे सुने ही उठकर चल पड़ने को तैयार हुआ। क्षण-भर के लिए ठहरना मेरे लिए कठिन हो चला था। उसके सामने मैं पराजित था, फिर अपने पराभव पर मन में खेद हुए बिना न रहा। किशोरी मेरे मन का भाव ताड़ गई। वह बड़ी नम्रता से अस्फुट शब्दों में बोल उठी—अपराध क्षमा करें, सुशील बाबू ! मैंने उनकी सहायता बिना आपसे पूछे ही ली थी, इससे निश्चय ही आपका अपमान हुआ है जिसको मैं अस्वीकार नहीं

कर सकती। पर, वह अवसर ही ऐसा था कि उसके बिना मेरे लिए कोई उपाय ही नहीं रह गया था। उधर आपके घर पर, सुना, आपही श्राद्ध-क्रिया की धुन थी। फिर मैं दाह-क्रिया कर आपके घर पर जा ही कैसे सकती थी। ऐसी दशा में मेरा अपराध क्या? उस समय की मेरी हालत पर विचार कीजिए सुशील बाबू!

किशोरी इससे अधिक कुछ बोल न सकी। उसका गला भर आया और आँखों से आँसू अबाधगति से बह निकले। वह वास्तव में दया की पात्र थी!

मुझे अपने आप पर बड़ा रंज हुआ! उफ़, इसके कोमल हृदय पर यह वज्र-प्रहार! ऐसा हृदय क्या कभी ठुकराने योग्य है? मैंने आवेश में आकर उसके आँसू पोछते हुए उसे अपनी छाती से चिपका लिया। उसने भी अपनी देह शिथिल छोड़ दी। मैंने सहानुभूति के स्वर में कहा—मैं तुम्हें हृदय से चाहता हूँ, किशोरी! मैं कभी तुम्हें ठुकरा नहीं सकता।

पर, यह अवस्था क्षणिक थी! बहुत ही क्षणिक! पलक मारते-न-मारते यह घटना घटित हो गई। वह तुरत सँभल गई, अपने हाथ को मेरे हाथ से खींच लिया! मैंने भी तुरत अपने को सँभाला और उसे अपनी भुजा-पाश से मुक्त कर दिया। जैसे कोई अज्ञान बालक सर्प को पकड़कर छोड़ देता है। वह मुझसे जरा खिसककर बैठ गई।

"अच्छा, किशोरी, अब जाता हूँ। हाँ, तुमसे एक बात कहूँ!"

"वह क्या?"

"यही कि, मुझसे रुपए लेकर किसुन को लौटा दो।"

किशोरी अन्यमनस्क हो रही। बोली—"यदि वह लेना पसंद न करे, तो?"

मैं चिंता में पड़ गया। पर, वह बोल उठी—अच्छा, मैं लौटाने की एक बार कोशिश करूँगी। कहूँगी यदि वह आ गए!

"क्या वह रोज आता है तुम्हारे यहाँ?"

"नहीं। हाँ, कभी-कभी आ जाते हैं।"

मैं कुछ देर तक स्तब्ध रहा। वह कुछ सोच रही थी! कुछ क्षण के बाद वह बोल उठी—अच्छा, सुशील बाबू, मुझे अपने यहाँ नौकरी ठीक नहीं कर देंगे? मुझे पेट-भर खाना और उतारे हुए कपड़े चाहिए। बस! क्या इतनी सी कृपा न करेंगे? यहाँ अकेली और बे-काम रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। दुष्ट पीछे पड़ा है, कौन घड़ी कौन सी बात··· ·····। आदमी अपने को कब तक बचाए रख सकता है जब कि दुश्मन रात-दिन सिर पर मँड़रा रहा है।

"अच्छा, कल ही खबर दे दूँगा तुम्हें! बस, अब जाने दो!"

और मैं घर की ओर चल पड़ा। किशोरी दर्वाजे तक पहुँचाने के लिए मेरे साथ आई। आज उसके मुख पर वह प्रफुल्लता न थी और न थी हास्य की वह समुज्ज्वल रेखा ही।

१५

किशोरी के यहाँ से आने पर मेरे मन की बड़ी विचित्र दशा रही। मैं जितना ही किशोरी के विषय में सोचता, उतनी ही वह एक पहेली-सी ही बोध होती। मैं उसे समझने की बड़ी चेष्टा करता, पर सभी चेष्टाएँ विफल हो जातीं। मैं उदास हो उसे भुलाने का प्रयत्न करता, पर उसकी करुण मूर्ति आँखों के सामने नाच उठती। आह! अभागी का आज कोई आश्रय नहीं! उसपर तुर्रा यह कि दुष्ट पीछे पड़ा हुआ है उसकी रक्षित निधि—स्त्री-जाति की एक मात्र विभूति—लूटने! कैसा कज्जाक है वह! नीच! पाजी! नर-पिशाच!!!

मैं दिन-रात इसी चिंता में घुलने लगा। कम-से-कम इस चिंता के कारण बेकारी की समस्या मेरी हल हो चुकी थी!—चिंता ही सही, एक काम तो हाथ में था! पर, यह बात छोटी भाभी से छिपी न रह सकी। उन्होंने मेरी आकृति और वाह्य आचरण से जान लिया था कि अवश्य मेरे अंतस्तल में तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ है।

उस दिन जब मैं किशोरी के घर से लौट आया था उस समय रात के आठ बज चुके थे। मैं सभी की आँखें बचा दबे पाँव आकर अपने कमरे में बिछावन पर लेट रहा। मेरे मानसिक-जगत में तूफान मचा हुआ था! इसलिए मैं आँख मूँदे हुए अर्द्ध-प्रकाशहीन कक्ष में पड़ा था। आध घंटे के बाद मुझे खोजती हुई छोटी भाभी

आई और लैंप की बत्ती को जरा उसकाते हुए पुकारा—कहाँ हो भई! चलो, भोजन कर लो।

मैं नींद का स्वांग भर रहा था जरूर, पर उनके सामने मैं ऐसा न कर सका। यह था उनके स्नेह का प्रभाव जिससे उन्हें धोखा देने का कभी साहस तक न होता! मैं करवट बदलते हुए कुछ बोलना ही चाहता था कि भाभी आपही बोल उठीं—क्यों? बात क्या है? इतने सवेरे अलसाए क्यों पड़े हैं? तबीयत अच्छी है न!

"हाँ, अच्छी है, भाभी! योंही लेट रहा था। लेटने के सिवा और कौन सा काम है, भाभी!

मेरे कथन में एक वेदना थी—एक भयंकर आह! जो उनसे छिपी न रह सकी। उन्होंने स्नेह के शब्दों में कहा—कौन काम है? आप करेंगे ही क्या? इसमें आपका दोष ही क्या है? पर, इसीलिए क्या भोजन करना छोड़ देंगे? उठिए!

भाभी मेरे निकट आ गई थीं। मैं ऊपर की ओर मुँह किए लेटा हुआ था।

"जी अच्छा नहीं है, भाभी!"—मैंने अलसाए हुए कहा।

"सो जानती हूँ!" इषत् हास्य के साथ वे बोलीं। "जानती हूँ, सुशील बाबू! आपको तबीयत अच्छी नहीं है। पर, यह बेकारी के कारण हर्गिज नहीं। अच्छा, जरा उठिए और जो जी चाहे, खा लीजिए—तबीयत हरी हो जायगी!

"ना—न खाऊँगा।"

"तो मैं भी न खाऊँगी!"

"ना—यह न होगा।"

"तो वह भी न होगा।"

"जिद्द न करो भाभी, सचमुच तबीयत अच्छी नहीं है ?"

"क्यों नहीं अच्छी है ?"

"कैसे कहूँ, क्यों नहीं अच्छी है !"

"क्यों ? क्यों नहीं कह सकते ? क्या मैं आपकी कोई नहीं हूँ, सुशील बाबू ! क्या आप मुझे पराई समझ रहे हैं ?"

"आह ! यह क्या कहती हैं भाभी ! अब तक मैं तुम्हारे नाज से पलता आ रहा हूँ।"

उन्होंने स्नेह से मेरे मुँह पर हाथ रख दिया। उनके स्पर्श में, आह ! कैसा जादू था ! मैं कठिनता से बोल उठा—छोड़ दो भाभी, और न बोलूँगा।

"सावधान।"—भाभी ने इषत् रोष किंतु मुस्किराते हुए कहा, "क्या कहना चाहते हैं, कहें—कह डालें, सुशील बाबू !

"क्या वह पूरी होगी जो कुछ मैं तुमसे कहूँ ?"

"अच्छी रही ! क्या शपथ ही करा लीजिएगा ?"

"न—नहीं !"

"तो फिर ?"

मैंने किशोरी के बारे में सभी बातें—एक-एक कर-कह दीं। उन्होंने मेरी बातें ध्यानपूर्वक सुनीं। मैंने देखा—उसकी अवस्था जानकर इन्हें बड़ा खेद हो रहा है ! मैंने भाभी से कह डाला—क्या उसकी नौकरी का हिला न लगा दोगी, भाभी ?

"क्या उम्र है उसकी ?"

"यही १३-१४ की !"

"क्या उसकी शादी अब तक नहीं हुई है ?"

"शादी यों तो उसकी बचपन में ही हो चुकी थी। पर, नहीं के बराबर ! या यों कहिए—हुई ही नहीं है !"

"पर, यह तो बड़ी विषम समस्या है ! हमारे घर में कोई अधेड़ या बूढ़ी औरतें ही रह सकती हैं ! ना, हर्गिज नहीं हो सकती !"

"नहीं हो सकती ? क्यों—क्यों भाभी ?" क्या जवानी कोई पाप है या भगवान का कोई अभिशाप ?"

"अभिशाप ही समझिए, सुशील बाबू ! यह अवस्था ही ऐसी कुछ है—यही ही विषाक्त ! जहर से भी भयंकर।"

"तो मेरी प्रार्थना बेकार ही जायगी, भाभी ? मुझसे उसका दुख नहीं देखा जाता ! वह बेचारी कैसे अपनी परवरिश करेगी।"

भाभी कुछ देर तक चुप रहीं—न जाने क्या क्या सोचती रहीं ! फिर कुछ देर के बाद बोल उठीं—तो आपको भी मेरा एक अनुरोध मानना होगा ? तैयार हैं ?

"कैसा अनुरोध ? मैं तैयार हूँ ! क्या कहती हो ?"

"अच्छा कहूँगी पीछे ! पर, याद रखिए, अपनी बातों से न मुड़ना होगा !"

"हर्गिज नहीं, भाभी।—देख लीजिएगा।"

तो मैं उसकी नौकरी के लिए कोशिश करूँगी ! बड़ी दीदी से

कहना होगा! वे घर की मालकिन ठहरीं? बिना उनको खुश किए कोई काम न चलेगा! दीदी का स्वभाव आप जानते ही हैं?......अच्छा, अब भी भोजन न करेंगे? कहिए तो, मैं यहीं परोसकर ला दूँ।

"नहीं, कष्ट न करना होगा तुम्हें! मैं खुद चौके में चलता हूँ।

और मैं भाभी के साथ चौके में आया, भोजन किया और बड़ी शांति के साथ पान का बीड़ा लिए बिछावन पर आकर पड़ रहा। मुझे विश्वास था कि भाभी अपनी बात को पूरी किए बगैर न रहेंगी।

दूसरे दिन दोपहर के बाद उन्होंने मुझसे कह दिया—महीना पूरा होने को चार-पाँच दिन शेष हैं। दीदी ने अपनी राय दे दी है, पर, पाँच रोज के बाद उसे बुलाना होगा। उससे कह दीजिएगा।

किशोरी के विषय में बड़ी भाभी ने अपनी राय दे दी—यह सचमुच आश्चर्य की बात थी। चाहे जो हो, मुझे इससे बड़ा आनंद हुआ। फिर भी रह-रहकर जब कभी उसके अतीत-जीवन की ओर मेरी दृष्टि जाती, तब-तब मैं अस्थिर हो उठता। इतना होने पर भी किशोरी के सरल स्वाभाविक स्नेह ने मेरे हृदय में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था—इसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता।

जो हो, किशोरी मेरे घर काम पर आ गई। उसकी सेवा और कार्य देखकर सभी प्रसन्न हुए। किशोरी ने मानो आते ही सभी के मन मोह लिए।

एक दिन की बात है। छोटी भाभी दोपहरी बिताने को अपनी बिछावन पर लेटी थीं, किशोरी भी उसी कमरे में फर्स पर बैठी कुर्ता सी रही थी छोटी भाभी लेटे-लेटे ही पुस्तक पढ़ने का उपक्रम करतीं, पर, बीच-बीच मे किशोरी से बातें भी करती जातीं। उन दोनों में बात का सिलसिला इतना बँध गया कि भाभी पुस्तक छोड़कर उसकी बातों में ही तल्लीन हुई। इसी समय डाकिया भाभी के नाम एक चिट्ठी छोड़ गया। मैं उसे लिए हुए भाभी के कमरे में आया और उनसे कहा—लो, भाभी, चिट्ठी! मालूम पड़ता है, छोटे भैया ने भेजा है।

मैं उत्सुकतावश वहीं कुर्सी पर बैठ गया और भाभी से कहा—देखो, भाभी, क्या लिखा है? अच्छे हैं तो? परीक्षा उनकी कब से प्रारंभ होगी?

भाभी ने पत्र हाथ में लेते हुए सहास्य कहा—लीजिए, आप ही पढ़िए, सुशील बाबू!

"नहीं, मैं किसी का Private Letter नहीं पढ़ा करता!"

"वाह! क्या कहना?"—भाभी ने मुस्किराते हुए कहा, "जब चिट्ठीवाला ही पढ़ने की अनुमति दे तब भी क्या न पढ़ना चाहिए?"

"हाँ, तब भी, भाभी, न पढ़ना चाहिए? क्योंकि...।"

"क्योंकि क्या? यही न कि, कोई गुप्त बात पढ़नेवाले पर प्रकट हो जाय!"

"हाँ, यही!"

भाभी ठहाका मारकर हँस पड़ीं। बोलीं—पर, हमलोगों के बीच ऐसी कोई गुप्त बात है ही नहीं! उसके लिए आप खातिर जमा रखें, सुशील बाबू!

"नहीं-नहीं, भाभी, रहने दो! मैं हर्गिज नहीं पढ़ सकता! हाँ, तुम मन-ही-मन सही, एक बार पढ़ तो लो, भाभी।"

"अच्छी बात, मैं ही पढ़े देती हूँ।"

इतने में मैंने मुड़कर पीछे की ओर देखा—किशोरी न जाने कब वहाँ से निकल गई थी। मैं मन-ही-मन उसकी भावुकता देख बड़ा प्रसन्न हुआ। भाभी पत्र पढ़ने लगीं और मैं उसे ध्यान से सुनने लगा।

पत्र में प्रेम की बातें न थीं, सो बात नहीं। फिर भी भाभी की विशाल हृदयता के सामने वह गुप्त रखने की चीज न थी! कारण, भाभी का सिद्धांत था कि, प्रेम परमेश्वर का वरदान है—यह गुप्त रखने की चीज नहीं। हाँ, उल्लेखनीय बात यह थी कि, मेरे पढ़ने के लिए भाभी ने छोटे भैया से संमति माँगी थी और इसके लिए उन्हें स्वार्थी तक लिख मारा था, जिसके उत्तर में भैया ने लिखा था!—

"×× तुम मुझे स्वार्थी कहो, लोभी कहो, ज्योति, स्वीकार है; पर, मैं तुम्हारे सामने यह संकल्प करता हूँ कि सुशील जहाँ तक पढ़ना चाहेगा, उसे पढ़ाऊँगा। इस 'स्वार्थ' का बदला मैं अपनी जान व जिगर से दूँगा। पर, अभी तो मैं स्वयं पराधीन हूँ। भैया की हरकत जो उन्होंने सुशील के प्रति दिखलाई है, बहुत

ही बुरी और अनुचित है। उनकी समझ को मैं क्या कहूँ! पर, उनका यह सर्वथा अन्याय है जब कि सुशील आधी संपत्ति का स्वयं मालिक है। आदि...!"

भैया की इन पंक्तियों को सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हो गया। भाभी का यह 'गुप्त षड्‌यंत्र'! आह! सहानुभूति और स्नेह का सच्चा निदर्शन इसके सिवा और हो ही क्या सकता है! भावावेश में मुझसे न रहा गया। आँखों से आँसू बह ही निकले। मानों समुद्र में ज्वार आ गया हो।

भाभी से यह देखा न गया। उन्होंने कुर्सी से मुझे अपनी ओर खींच लिया। मैं उनके बहुत पास आ गया। उन्होंने अपने अंचल से आँसू पोछते हुए स्नेह के स्वर में कहा—यह क्या? आप रो पड़े क्यों? इतने दिनों तक पढ़ना-लिखना छोड़ बेकाम पड़े रहे—यह मुझे शूल-सा चुभ रहा था; पर, बे-बसी थी मेरी। यही तो आपकी पढ़ने-लिखने की उम्र थी। पर, बड़े ने न जाने क्यों ..!

"जाने दो, भाभी, मैं अवारा ही रहूँगा, दो टके की चाकरी भी मुझे न मिलेगी! देख लूँगा अपनी दुनियाँ! क्यों तुम मेरे लिए जान दे रही हो, भाभी!"

"वाह! क्या कहते हो—जान देना तो बहुत भारी बात है, सुशील बाबू! मुझसे तो आपकी मामूली-सी सेवा भी नहीं बन पड़ती। अलबत्ता आपके लिए दुखी मैं अवश्य हूँ। पर, क्या करूँ! फिर भी मैंने कुछ प्रबंध कर लिया है। अब आप जब चाहें पढ़ने को जा सकते हैं। हाँ तो, कहिए, कब जाइएगा।"

"अब तो पढ़ने की ओर मेरा दिल ही नहीं जाता, भाभी ! छोड़ दो मुझे।

"ऐसा भी कोई करता है ! लड़कपन न कीजिए ! मैं जो कुछ चाहूँगी, वह कभी संभव नहीं कि पूरी न हो ! चाहे मेरी बात आप टाल ही दीजिए तो मेरा वश ही क्या ! पर, मैं यह लाभ की कह रही हूँ। संसार में मूर्खता सभी पापों से बढ़कर है, सुशील बाबू ! क्या विद्या के लिए आपके हृदय में कुछ भी संमान नहीं है !"

"नहीं है—सो बात नहीं, भाभी है अवश्य ! पर, आपको झंझटों में डालकर मैं अपने लिए...। नहीं, ऐसा न होगा, भाभी ! मैं ऐसा न कर सकूँगा।"

"तो क्या आपका आखिर यही निश्चय है ? पर, आप गलती कर रहे हैं और इसके लिए जीवन भर आँसू बहाने के सिवा आपको कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, समझ रखिए ! मैं विश्वास दिलाती हूँ—मुझे किसी तरह का कष्ट न होगा। मैंने आपके लिए सभी प्रबंध कर लिया है। अब, और न सुनूँगी मैं ! कहिए—होते हैं तैयार आप ?

मैं अब उत्तर ही क्या देता ! मैंने कह दिया—अच्छा, तैयार हूँ, भाभी ! आपकी बात माने लेता हूँ। पर, इस उपकार का बदला मैं कभी नहीं चुका सकूँगा जो आपने मेरे . ....।

"हाँ, आप चुका नहीं सकते सुशील बाबू; पर मैं तो चुकाऊँगी अवश्य।"

भाभी ने मेरे गाल को चूमते हुए कहा—लो, मैंने अपने उपकार का बदला पहले ही चुका लिया, जिसके लिए तुम डर रहे थे। अब तो तुम्हारा ऋण ही मेरे पास रहा जिसको मुझे पूरा करना होगा—होगा न, सुशील बाबू !

मैंने मुस्किराते हुए कहा—तो कब चलना होगा, भाभी !

बस, देर करने से क्या लाभ ! कल सुबह की ट्रेन से निकल जाइए। आज चक्कर काट लीजिए। मैंने अपने कपड़े पेटी में बंदकर रखे हैं, सभी कुछ पहले से ठीक है, केवल 'उनके' उत्तर की देर थी !

"पर, भाभी, मैं तुम्हारे बिना वहाँ कैसे रहूँगा।"—स्नेह के शब्दों में मैंने कहा, "कौन मुझे हृदय से चिपकाकर यह आत्मीयता दिखलाएगा ?"

"जिसने आपको मोटर से कुचल दिया था।"—भाभी ने मुस्किराते हुए कहा ! उसके बाद जोर से हँस पड़ीं। बोलीं—ठीक है न, सुशील बाबू !

मैं और वहाँ न ठहर सका—बाहर निकल पड़ा। बाहर दरवाजे के पास किशोरी खड़ी शायद मेरी ही प्रतीक्षा कर रही थी। मैं उसी ओर होकर जा रहा था कि वह बोल उठी—कब जाते हैं, सुशील बाबू, पढ़ने ?

"कल सुबह को !"

किशोरी ने देखा, बड़ी तन्मयता से मेरी बात सुनी ! कदाचित् उसके हृदय में अनुराग था और मेरे हृदय में उल्लास !

मैं आगे बढ़ गया।

१६

जो हो, करीब डेढ़ वर्ष के बाद अपनी शिक्षा का सुयोग पाकर कौन ऐसा विद्यार्थी होगा जिसे प्रसन्नता न हो। पर, मेरे मन में, न जाने क्यों, न तो वह उत्साह था और न स्फूर्ति ही। दिल एक तरह से बैठ गया था—अरमान शांत हो चुका था। अब मेरे खून में गर्मी न थी। फिर भी, मेरी स्नेहमयी भाभी की आज्ञा थी—मधुर आदेश! मैं उसे टालने में कभी समर्थ न हो सकता था।

भाभी ने अपनी आज्ञा बहुत जल्दी में दी थी और उतना ही जल्द उन्होंने जाने का भी प्रोग्राम बना दिया। मुझे सोचने-विचारने के लिए केवल एक रात-भर का ही अवकाश मिला। फिर भी मैं इस सुयोग को पाकर भी कोई लाभ न उठा सका। कारण था, एक ओर स्नेह-स्वातंत्र्य था, दो हृदयों का मूर्त्तिमान स्नेह, और दूसरी ओर कर्त्तव्य का कठोर शासन! मैं इन दो विशुद्ध गतियों में झूल रहा था।

मैं सवेरे नित्य-कर्म से निवृत्त हो बँगले पर आ गया। वहाँ बड़े भैया कुछ आदमियों के साथ बैठे बातचीत कर रहे थे! मैं वहाँ की आलमारी खोल पुस्तकों की तलाश करने लगा। इसी समय मेरे पुराने मास्टर साहब आ पहुँचे। भैया ने उन्हें आदर से बैठाया, मैंने भी आलमारी के पास से ही उन्हें अपना अभिवादन जतलाया। उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा—क्यों, मिस्टर

सुशील, अच्छे हो न। हाँ, पटना जाने की तैयारी हो रही है क्या ? क्यों मिस्टर वर्मा !

मास्टर साहब ने भैया की ओर उत्तर की आशा से अपनी दृष्टि फेरी।

भैया ने रुखाई से गंभीर होकर जवाब दिया—हाँ, हजरत जा रहे हैं।

"हाँ, जा रहे हैं, हजरत !"—मास्टर साहब ने कहा, "पर इतने दिनों के बाद ! क्यों मिस्टर वर्मा ! आपने तो बहुत दिनों तक सुशील को घर पर ही बैठा रखा !"

फिर क्या था ? भैया फूट पड़े—"जानते नहीं हैं, मास्टर साहब ! मैं क्या इन्हें घोल-घोलकर पिलाऊँ ? इल्म तो कुछ घोलकर पिलाने की चीज नहीं। जिसे पढ़ने की अपनी ख्वाहिश नहीं है, उसे दूसरा कर ही क्या सकता है ! मास्टर साहब आपको तो इस विषय में खास तजरबा है। कहिए, मैं क्या बेजा कह रहा हूँ ? अब हजरत जा रहे हैं, मुझे कुछ आपत्ति नहीं, तैयार हूँ मैं खर्च देने को ? पर, आप जरा पूछ तो लीजिए, कहीं पैसा पानी न करे। फिर भी ! समय देखते ही हैं, कैसा जा रहा है।"

"सो बात ठीक है मिस्टर वर्मा ! पढ़नेवाले की तो पहले अपनी ख्वाहिश चाहिए, फिर भी तो पढ़ना कुछ चीज ही नहीं। पर, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अगर रात का भटका सुबह को मिल जाय तो उसे भटका हुआ नहीं कह सकते। यही मैं सुशील से भी आशा करता हूँ। अब भी अगर पढ़ने में जोर लगा दिया तो

खटाखट निकलता ही जायगा। फिर कहीं अटक नहीं हो सकती। सुशील कुछ भद्दे लड़कों में है भी नहीं।

"जो कहिए, मास्टर साहब, आपका प्यारा छात्र है न। आप तो कहेंगे ही।"—भैया ने व्यंग के स्वर में कहा।

इसी समय प्रभुनारायण, मेरे पड़ोसी, जो वहाँ बैठे हुए थे, बोल उठे—प्यारे छात्र की बात नहीं। सुशील भैया वाकई तेज हैं, जरा मन देने की जरूरत है। देख लेना—वंश का नाम रखेगा यह।

"अजी, चाचा क्या कहते हो ?"—भैया गंभीरतापूर्वक बोल उठे, तेज और भद्दे की बात नहीं है। अक्सर देखा जाता है कि तेज लड़के ही बिगड़ा करते हैं और भद्दे ही मैदान मार जाते हैं। देख लीजिए, हमारे ही घर में। छोटे किस तरह बढ़ता गया। अब तेज को बारी है न ! देख लीजिएगा, आप लोग। हाथ कंगन को आरसी क्या ? हमारे वंश का जो नाम बढ़ाएँगे, सबको मालूम ही है। होनहार बिरवान के होत चीकने पात !"

बहस धीरे-धीरे बढ़ चली थी। इधर मेरा मन बैठा-सा जा रहा था। इसी समय भैया ने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा—जा, घर से कुछ पान के बीड़े लगा ला।

मैंने वहाँ से टसकने का अच्छा अवसर पाया। गया भीतर ! पानदानी बड़े भैया के घर में ही रहती। मैं धड़धड़ाता हुआ उनके कमरे में ही चला गया। वहाँ देखा—बड़ी भाभी पलंग पर लेटी लल्ला को खेला रही थीं। मैं उन्हें देखकर कुछ ठिठक-सा गया, पर कुछ क्षण के बाद ही कहा—भैया पान सजाकर माँगते हैं, भाभी।

"मैं किसी का हाथ थोड़े ही पकड़े हूँ। बैठे-बैठे दरवाजे पर से हुक्म चलाते हैं। अपने से बनाने में हाथ को कीड़े काटते हैं।" —बड़ी भाभी ने त्योरियाँ बदलते हुए कहा।

"जरा बता भी दो, भाभी, मैं खुद लगा लूँगा। पानदानी है कहाँ?"—मैंने सहमते हुए कहा।

"क्यों देखते नहीं! आँख में लुवाठ मार गया है क्यों? सभी जान ही खाने को तैयार रहते हैं। ज्योंही आराम करने को आई कि जान खाना शुरू हुआ।

"तो सीधे क्यों नहीं कहतीं कि फलाँ जगह पड़ी हुई है?"

"क्यों यह त्योरियाँ किसे दिखाते हो? कौन दबेल है यहाँ? वाह रे आँख दिखाना! कमाकर खिलाते तो आज मैं सूली पर चढ़ा दी गई होती। क्यों?"

"हाँ, हाँ; आज मैं सूली पर चढ़ा देता!"—मैं रोष में झपटकर बोल उठा, तू किसका गुमान करती है? अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना निकाल दूँगा—हाँ, समझ रखना।"

बच्चे लल्लन को पाँच-सात धौल जमाकर, तनतनाती हुई मेरे सामने आ गई और गरजने लगीं—"बड़े बाप के बेटा बने हो तो मुझे सूली चढ़ाओ—कम-से-कम मारकर भी तो शौक बुझा लो। देखूँ तेरी जवाँमर्दी!"

मैंने सहमते हुए कहा—चलीं कमर कसकर लड़ने! यही तो तुममें बुरा रोग हो गया है।

"बुरा रोग हो तुम्हारे मुँह में! मुँह भर! मैं आज खून बरसा

दूँगी। देखूँ भी तो तेरी चढ़ती उमर! किस घाट का पानी पी रहे हो? निगोड़े!

अब मुझसे बर्दाश्त न हो सका। मैंने चट अपने पाँव से स्लीपर निकाल तड़ातड़ गर्मा दिया—एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ-सात! गुस्से से मैं लाल अंगारा हो रहा था।

इसी समय दौड़कर आ पड़ीं छोटी भाभी और किशोरी! दोनों ने मेरी बाँहें पकड़ीं! मैंने किशोरी को झकझोर तो दिया, पर छोटी भाभी से मैं अपने को छुड़ा न सका।

घर में कुहराम मच गया। भैया भी बाहर से दौड़ते हुए आए। मैं छोटी भाभी की ओट में था उसी कमरे में।

भैया ने लोगों का जमघट और बड़ी भाभी की चिल्लाहट के साथ गालियों का बौछार सुनकर कहा—बात क्या है? हुआ क्या! रोज धमाचौकड़ी किस बात को मचती रहती है!

इसपर बड़ी भाभी ने मुझसे मारे जाने की बात भैया से कह सुनाई!

भैया की आँखें लाल हो गईं! भवें तन गईं! वे बिगड़कर मुझसे बोल पड़े—मैंने तुम्हें यही धमाचौकड़ी मचाने को भीतर भेजा था! बोलता क्यों नहीं, पाजी!

मेरा रोष काफूर हो गया था। मैंने उनसे शांति के साथ डरते हुए कहा—आपने ही मुझे पान बनाने भेजा था। मैंने उसके लिए भाभी से पूछा। वे इसपर मुझे गालियाँ दे बैठीं! "बड़े बाप का बेटा" तक कह सुनाया। आप जिनसे चाहे, पूछ सकते हैं।

इसपर बड़ी भाभी उनके सामने ही मेरी अर्थी निकालने लगीं गंगा-किनारे! मैं अपना घूँट आप पी रहा था, पर, भैया से भी यह सहा न गया। उन्होंने उन्हें गर्दन पकड़कर जोर का धक्का दिया। वह पछाड़ खाकर चौखट पर मुँह के बल गिर पड़ीं। ऊपर से तीन-चार लात जमाकर भैया बाहर चले गए। छोटी भाभी मुझे लेकर अपने कमरे में आईं। पीछे-पीछे किशोरी भी!

रात बहुत बुरी तरह तरह कटी। बड़ी भाभी का रोना खत्म न हुआ। भैया खाकर बाहर चले गए। मैंने भी कुछ खा-पी लिया; पर, उस दिन छोटी भाभी और किशोरी ने कुछ न खाया। कारण, रात-भर बड़ी भाभी का मुँह बंद न हो सका। कदाचित छोटी भाभी भी न सो सकीं।

जो हो, शिव-शिव करते रात कटी, प्रातःकाल हुआ। किशोरी खूब तड़के ही मुझे जगा गई। मैंने आँख मींजते हुए उससे कहा–कितनी सवेरे तुम उठा करती किशोरी?

किशोरी ने सरलता से जवाब दिया—यही कुछ पहले तो। छोटी मालकिन ने मुझे उठा दिया था।

"वे कहाँ हैं?"

"चौके में आपके लिए जलपान तैयार कर रही हैं।"

मैं अभी तक बिछावन पर ही पड़ा था। किशोरी मेरी ओर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से निहार रही थी। वह बोल उठी—उठिए, सुशील बाबू! बिछावन आपकी बाँध दूँ!

"जरा ठहरो!"—मैंने आँख मलते हुए कहा।

"उठिए भी तो !"—किशोरी ने फिर भी दुहराया, "अब सवेरा हो गया है, जल्दी मुह-हाथ धोकर तैयार हों, फिर कुछ नास्ता-पानी ।"

इसी समय बाहर से भैया ने मुझे पुकारा । मैं हड़बड़ाकर बाहर निकला । किशोरी मेरा बिछावन बाँधने लगी ।

बात-की-बात में तैयार हो गया । भाभी ने प्रेम से जलपान कराया । उधर दर्वाजे पर गाड़ी लगी थी । सामान रखवा दिए गए । मैं कमरे में छोटी भाभी की छाती से चिपककर रो रहा था ।

नौकर ने पुकारा—छोटे बाबू, तैयार है गाड़ी ।

मैंने भाभी के पैर छूकर प्रणाम किया । उन्होंने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया साथ ही जेब में रुमाल बँधा हुआ कुछ गट्ठर । शायद रुपए और कुछ नोट थे ।

किशोरी ने आने के समय छोटी भाभी के कमरे में मेरे पैर छूए, मेरी धूल को सिर आँखों पर लगाया । आह ! उसकी उज्ज्वल आँखों में आँसू टलमल कर रहे थे । मालूम होता था—कमल दल पर ओस-कण ढल रहे हों ।

मैंने छाती थामकर यात्रा कर दी ।

१७

मेरा पठन-पाठन यथावत् प्रारंभ हुआ । इस वर्ष भैया के आदेश से मैंने पटना कालिजियट स्कूल में नाम लिखाया और

उसी के होस्टल में अपना निवास रखा। ऐसा मुझे बाध्य होकर करना पड़ा था। छोटे भैया के एक मित्र-जीवन बाबू—उन दिनों उस स्कूल में सहकारी शिक्षक थे। वे बड़े ही सभ्य, मिलनसार और सहृदय थे। मुझे तो वे अपना आत्मीय बंधु-सा ही मानते, प्यार करते और पढ़ाते!

इस बार मैं जी खोलकर पढ़ने में लग गया था। भाभी का आदेश आँखों पर झूल रहा था। उन्होंने आने के समय रुमाल में करीब सौ के नोट और रूपए दिये थे। बड़े भैया ने पंद्रह रु० मासिक देना ठीक कर लिया था और आने के समय उन्होंने ४०) मेरे साथ लगा दिए थे और आदेश था—महीना लगते ही रुपए भेजे जाएँगे, फ़िक्र करने की जरूरत नहीं।

मेरा अध्ययन चल पड़ा। मैंने पढ़ने में जोर लगाया। क्वार्टर्ली परीक्षा थी, फल असंतोषजनक रहा, हाफ-इयर्ली दी, फल साधारण रहा; इयर्ली परीक्षा दी, मैं अपने बल पर पास कर गया। बड़ी खुशी हुई।

जीवन बाबू ने मेरी अच्छी देख-रेख की। सौभाग्य से आप ही होस्टल के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट थे और हेड थे हेडमास्टर—एक जबर्दस्त डिसिप्लेरियन!

दूसरे वर्ष मैं मैट्रिक क्लास में आ गया। इस वर्ष तो प्रारंभ ही से रात को रात और दिन को दिन नहीं समझा। पर, खेल के लिए अवश्य इस नियम में अपवाद था। खेल मुझसे छूट सकता

था कैसे ? उससे तो मेरा जन्म का साथ था। वह तो मेरी खास चीज थी।

संभव है, इसी 'खास चीज' के कारण फुट-बॉल की कौन कहे, क्रिकेट, बेडमिटन, टेनिस आदि प्रायः सभी विदेशी खेलों में मैं अपने स्कूल में आदर की वस्तु बन गया। हेडमास्टर पूरे सौक़ीन थे खेल के। दिल खोलकर मानते—मुझे बढ़ावा देते। फिर अन्य शिक्षकों की तो बात ही क्या ? वे लोग तो खुले दिल आफिसरों के बीच में मेरे विषय में कहते—सुशील जेम है हमारे स्कूल का ! ग्लोरी है हमलोगों के लिए।

यही कारण था कि मेरा मित्र-समुदाय खूब बढ़ चला। मित्रों का एक खासा मजमा ही जुट गया। पर मैं था तो परतंत्र ! वहाँ अवकाश ही कहाँ कि सभी से कुछ बात भी कर सकूँ। सख्त पहरा था। कभी आँख बचाकर निकला भी तो दो-चार मिनट में, डर के मारे लौटना पड़ता। पर, यह परतंत्रता मुझे अखरी नहीं। कारण था—सिद्धांत था मेरा, मैं भाभी को कभी निराश न करूँगा।

टेस्ट परीक्षा हुई। गणित छोड़कर सभी विषय में पास कर गया। फिर भी हेडमास्टर ने मुझे सेंट-अप कर तो दिया, साथ ही एक भूत—अवधूत बाबू—गणित शिक्षक—को मेरे पीछे लगा दिया। सच कहता हूँ—भूत ही थे वह ! मैं केवल दो मास में ही उनकी सहायता से इतना योग्य अवश्य हो सका कि फाइनल परीक्षा में पास कर जाऊँ। परिणाम-स्वरूप, मैं मैट्रिक-परीक्षा में सफल हो गया।

कहना न होगा कि मेरी सफलता का समाचार सुनकर मेरी भाभी, हाँ, मेरी आदरणीया छोटी भाभी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी—और कदाचित किशोरी को भी।

पास होने पर कितने धन्यवाद-पत्र आए, Congratulation Card आए। इससे मुझे एक लाभ तो अवश्य हुआ कि पढ़ने की ओर मेरी रुचि बढ़ चली और मैं आगे के लिए और भी अधीर हो उठा।

अवकाश में मैं कभी घर भी न गया। जब-जब छुट्टियाँ मिलतीं, मैं जीवन बाबू के साथ यात्रा में चला जाता। उन्हे पर्य्यटन का बड़ा शौक था! दो-चार दिन की छुट्टियाँ मिलने पर भी वह कहीं-न-कहीं अवश्य चले जाते। मैं भी उनके साथ हो लेता। हो लेता क्या, मुझे भी बाध्य होकर साथ देना ही पड़ता। वे एक अच्छे कवि भी थे और बड़े ही भावुक! उनके शिक्षा-सहवास में रहकर मैं भी इस रोग से बच न सका।

मैंने कविता को रोग कहा है और बहुत जान-बूझकर कहा है। कारण, मैं इसके चलते पागल था। यह एक ऐसा नशा था जिसकी खुमारी मेरे जीवन तक साथ बनी रही।

जो हो, मैं पास होने पर 'पटना कालिज' में प्रविष्ट हुआ। मैंने फस्ट डिवीजन में पास तो अवश्य किया था, पर छात्रवृत्ति मुझे न मिल सकी। फिर भी हमारे हेडमास्टर ने अपने स्कूल के 'गेम फंड' से दस रुपए मासिक छात्रवृत्ति देकर मुझे अवश्य ही उत्साहित किया था।

मैं अब वहीं के मिंटो होस्टल में रहने लगा वहाँ मैं भैया के साथ कुछ दिनों पहले रह चुका था। सौभाग्य से यहाँ मेरे मित्र ब्रजेंद्र से भी भेंट हुई। वह थर्ड-इयर का स्टुडेंट था! फिर वही पुरानी मित्रता सजग हुई दोनों अनन्य प्रेम-प्रवाह में बह चले।

× × × ×

विद्यार्थी-जीवन में कालिज का जीवन और भी आनंदप्रद रहता है। शिक्षा की पूर्णता तो कदाचित जीवन में कभी हो ही नहीं सकती किंतु उस पूर्णता के बहुत निकट कालिज में जाकर पहुँच सकता है। हाँ, उस तरह का अध्ययनशील होना वांछनीय है।

मेरी पढ़ाई चल निकली। प्रोफेसरों के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों को मैं बड़ी तन्मयता से सुनता—मनन करता और यथासाध्य आवश्यक स्थल का नोट भी करता। यही कारण था कि अपने वर्ग में मैं प्रसिद्ध था और प्रोफेसर भी मुझे आदर की दृष्टि से देखते थे। उधर स्पोर्ट्स में भी मेरा काफी नाम था।

उस दिन Hindu University और Patna College से friendly match था। दोनों टीमें आन-बान से लाउन ग्राउंड में आ डटी थीं। दर्शकों की भीड़ टूट पड़ी थी, लोग दंग-संग हो रहे थे, बड़ा हो हल्ला मचा हुआ था। भीड़ को संयत रूप में रखना कठिन हो चला था।

पर, खेल आरंभ हो गया। दर्शकों ने करतल-ध्वनि से हर्ष प्रकट किया। निर्णायक ने सीटी दी—दोनों दल अपने कौशल का

परिचय देने लगे। मैं 'पटना कालिज टीम' में बैक से खेला करता था।

Half time के लिये सीटी पड़ गई; पर, किसी ओर अभी एक गोल भी न हो सका था, फिर भी प्रेसिंग हमारी टीम की ओर से ही रही। दर्शकों की उत्सुकता-व्यग्रता बढ़ चली थी। उन्हें Half time भी असह्य हो उठा था। हो हल्ला मचा था। सार्जेंट हल्ला रोकने में व्यस्त थे।

सीटी बजी। दोनों दल के खिलाड़ी आ जुटे। दर्शकों ने तालियाँ बजाईं।

इस समय दोनों ओर से खूब प्रेसिंग रही। दोनों ओर के खिलाड़ियों ने दूने उत्साह से काम लिया। दोनों ने अपना दिल खोल दिया था। दर्शकों की ओर से काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा था। बीस मिनट निकल गये फिर भी कुछ न बन पड़ा। अब हाथ में केवल पाँच मिनट रह गये थे। सभी को विश्वास था कि खेल ड्राउन रहेगा। पर, हम लोग बड़ी मुस्तैदी के साथ खेल रहे थे। इस समय सिर्फ हमारी ओर से खूब प्रेसिंग थी। युनिवर्सिटीवाले बचाने में व्यस्त थे। हठात् बाल हमारी ओर से गोल के बहुत पास पहुँचाया गया। वे-सब सतर्क होकर बचाने में लग गये। संयोग से मैंने ऐसी किक् मारी की गोल-कीपर उसे रोक न सका, आखिर बॉल नेट के भीतर जा ही पहुँचा। दर्शकों की हर्ष-ध्वनि का कोई ठिकाना न रहा। विशेषतः मेरे नाम पर तो...।

बॉल सेंटर में लाया गया। इस बार युनिवार्सिटी टीम अपनी हीनता से बौखला कर जूझ पड़ी। उसे अपने बल का अभिमान

था। उसमें सभी चुनिंदे प्लेयर थे। अब कुछ झुटपुट भी हो चला था। दोनों ओर के खिलाड़ी पसीने से तर हो रहे थे। किसी को भी अपने आपका ध्यान-तक न था। पर, यह खेल बात-की-बात में खत्म हो गया। फिर भी मेरी किक के सामने गोल-कीपर सँभल न सका। बाल नेट को फाड़ता हुआ बाहर की ओर निकल पड़ा। इधर 'टाइम ओवर' की सूचना-सूचक सीटी पड़ी। दस हजार की दर्शक-मंडली के मुख में केवल एक आवाज थी—Bravo Mr. Sushil, Jwell of Bihar, Hiro of the College.

पर, मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था। मुझमें यह स्फूर्त्ति कहाँ की आ गई थी—कौन कह सकता है? सभी मुझपर प्रसन्न थे, पर मेरी प्रसन्नता न जाने कहाँ विलीन हो गई थी। मुझमें न तो उत्फुल्लता ही थी और न उदासीनता ही। मैं दोनों के बीच मानों झूल रहा था। पर, मुख पर सौम्यता थी और आँखें सहास्य!

हमारे प्रिंसिपल महोदय ने आकर मेरी पीठ ठोंकी, आफिसरों ने मुझसे हाथ मिलाया, जनता ने केवल अभिमान-भरी निगाहों से मेरी ओर देखा। मेरी मित्र-मंडली की ओर से बधाइयाँ रहीं। सभी की निगाहों में मैं आज पुतली-सा बना था।

इसी समय एक और भद्र पुरुष ने मुझसे हाथ मिलाया, मैंने उनकी ओर श्रद्धा की दृष्टि डाली सही, पर, मैं उन्हें पहचान न सका। पर, उनकी बगल में एक सुंदरी बालिका थी। मैंने उनकी ओर दृष्टि-पात किया सही, पर उन्हें भी पहचानने में सफल

न हो सका। इसी समय भद्र पुरुष ने मुझसे जिज्ञासा की—क्या उषा को भी नहीं पहचानते, सुशील? जिसकी मोटर से········· हा-हा हा!

इसी समय मुझे स्मरण हो आया। मैं उत्फुल्लता से बोल उठा—अहा! उषा!—उषा! इतने दिनों पर! अहा! धन्यवाद!—मैंने सिर झुका लिया।

उषा ने आँखें नीची कर लीं! पर, उसका अंग-सौष्ठव देखते ही बनता था।

उसके पिता ने कहा—आज मुझे कुछ कम प्रसन्नता न हुई, सुशील! मैं उषा के साथ इन दिनों विलायत गया था! परसों ही आया हूँ। इसलिए मैंने तुम्हारी खोज न ली। तुम उषा को देख नहीं पाए होगे? अच्छा, आओ सुशील मेरे साथ! मोटर खड़ी है।

और उन्होंने मेरी उँगली पकड़कर मोटर पर ला बिठाया। मैं पीछे की सीट पर बैठा और वे स्वयं भी! उषा सोफर की सीट पर बैठी! मोटरकार कितनी आँखों को पार कर चल पड़ी।

१८

देखते-ही-देखते कई महीने और कितने दिन निकल गए! ये दिन बड़े ही आनंद-प्रद थे। इसीलिए इन्हें जल्दी से निकलते कुछ देर न लगी। महीने दिन-से और दिन कुछ घंटे-से जान पड़े। अवश्य ये दिन सदैव नशीब नहीं होते।

उषा वास्तव में मेरे जीवन के लिए उषा ही निकली मैं अब इसके बिना निरा पंगु-सा बन गया। अब कुछ महीने से उसके यहाँ ट्युटर के रूप में नहीं, मित्र के रूप में केवल उसी के लिये मैं रहने लगा था। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे तो, उसके परिवार का मैं ही एक संचालक समझा जाने लगा था। मिस्टर राय—उषा के पिता—मुझे उसी वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से देखते जिस तरह उषा को देखते थे। उनकी दृष्टि में—स्नेहपूर्ण दृष्टि में—मेरा एक खास स्थान था। मैं उनका 'अपना' बन चुका था और उषा मेरी अपनी बन चुकी थी। अतएव, मिस्टर राय को पूज्य-पिता की दृष्टि से तो सम्मान किया करता।

उषा और मुझमें आंतरिक अनुराग था—स्नेह था; पर हम दोनों के कार्य-क्रम में कभी भिन्नता न आने पाई। कारण था—मिस्टर राय बड़े ही डिसिप्लिरेयन थे। समय का उन्हें असाधारण ज्ञान था। ठीक अंग्रेजों-सा वे सभी बातों में बड़े पाटकुलर थे। वे कहा करते—जो समय को नहीं समझता, वह मानो जीवन को ही नहीं समझता। समय का जहाँ तक हो, उचित व्यवहार होना चाहिए और वे केवल बोलते ही नहीं थे वरन् अपने कार्य से लोगों को दिखा भी अवश्य देते थे। मजाल क्या कि, उनके घंटे क्या मिनट में भी कोई परिवर्त्तन कर सके। ठीक उसी तरह हम लोगों पर भी उनकी खास निगाह रहा करती।

वास्तव में यदि उनकी वाह्य दृष्टि इतनी कठोर न होती तो हम लोगों का पठन-पाठन एक प्रकार से अस्त-व्यस्त ही रहता, पर,

ऐसा होने न पाया। उन्हीं की कठोर दृष्टि का फल था कि हम लोगों के बीच सौहार्द्र की प्रखर धारा प्रवाहित होते हुए भी अपने कर्तव्य-पथ से कभी हम दोनों परांगमुख न हो सके। फल-स्वरूप उषा फोर्थइयर आर्ट में पहुँची और मैं सिक्स्थ-इयर फ़िलासफ़ी में पहुँचा। उषा का भी बी० ए० में एक विषय दर्शन था।

उषा बड़ी प्रतिभा-संपन्न सुंदरी थी। स्नेहमय थी सरल थी। उसने कवि-हृदय पाया था। बड़ी भावुक थी—सहृदया थी। उसकी सरलता और निष्कपटता के सामने मुझे विवश होना पड़ता और उसकी श्रद्धा करनी पड़ती। अवश्य मैं उसका आदर करता—हृदय से वह आदरणीया थी।

उषा में सजीवता थी। जब तक वह विषय को पूर्णतः समझ न लेती तब तक उसे परितोष न होता, तब तक वह मुझसे प्रश्नों-पर-प्रश्न ही करते जाती और यथासाध्य मैं उन प्रश्नों का समाधान भी करता जाता। इतने पर भी वह न समझ पाती तो मैं उस पर बिगड़ उठता। वह सकपका जाती और कभी आँखों में ढलमल आँसू करने लगते। मेरा क्रोध का-फूर हो जाता और तब मैं हँस देता और कहता—"यह क्या, उषा! तुम्हारा अश्रुपूर्ण मुख-मंडल बड़ा भला दीख पड़ता है। हाँ, उषा, जरा खुलकर एक बार रो तो लो भला! देखूँ, तुम्हारे अश्रु-पूर्ण नयन-युगल को।"—इस पर वह हँस देती, कहती—"हाँ, बातें न बनाओ, सुशील बाबू! मैं रोती कब हूँ!" थोड़ी देर के बाद उसकी मुख-मुद्रा बदल जाती और वह खूब गंभीर होकर कहती—मैं आपको बड़ा कष्ट

देती हूँ ! क्या करूँ ? मेरी भोंदी अक्ल के कारण ....।

"हाँ, तुम्हारी भोंदी अक्ल के कारण मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है !"—उसकी बात काटकर मैं बोल उठा, "यही न, उषारानी !"

मैं इस पर हँस देता, वह लज्जित हो जाती। मैं उसके गालों पर मीठी चपत लगाते हुए कहता—बड़ी भोली हो, उषा ! तुमको पढ़ाने में मुझे बड़ा ही आनंद आता है ! पर, तुम कहीं ऐसा न सोच लेना कि, मैं तुमसे कष्ट पा रहा हूँ। हाँ, यह निश्चय है कि मैं तुमको बराबर चिढ़ाया करता हूँ। तुम इसके लिए खेद तो नहीं मानती, उषा ?

"खेद क्यों मानूँ, सुशील बाबू ! जानती हूँ—आप हास्य-प्रिय व्यक्ति हैं। यही नहीं, आपकी यदि मुझपर महती कृपा न होती तो मैं आज बी० ए० की छात्रा न हो सकती। इसका सारा श्रेय आपको ही है।"

मैं इस उत्तर को पाकर झूमने लगता ! उस समय 'मास्टरी' का नशा मेरी आँखों पर छा जाता, गर्व से मेरी छाती फूल उठती और मुख-मंडल पर गौरवमयी दीप्ति फूट पड़ती। उस समय मैं अपने को किसी राजकुमार से कम नहीं समझता।

यह था उसके सरल-निष्कपट हृदय का निदर्शन ! फलतः उसकी श्रद्धा मुझपर बढ़ती हीं जाती और मेरा स्नेह अनुदिन बढ़ता ही जाता।

पर, दुर्भाग्य वा सौभाग्यवश यह श्रद्धा-स्नेह आगे चलकर

प्रणय के रूप में परिवर्त्तित हो चला। मिस्टर राय की कठोरता की उपेक्षा कर दी गई—क्रूर शासन भी प्रेमाभिनय के सामने कुचल दिया गया। दो हृत्तंत्रियाँ एक स्वर से झंकृत हो उठीं। वह स्वर नीरव न था, अब उसमें गति थी, मूर्च्छना थी। उसमें संगीत था, सत्य था, परमानंद-सहोदरत्व था। मैं नहीं कह सकता कि इसका दोषी मैं हूँ वा वह हैं! अथवा दोनों के अभिभावक। पर, मैं जहाँ तक विचार करता हूँ तो बोध होता है—यदि इसका कोई दोषी है तो वह है हम दोनों को एक सूत्र में पिरोनेवाला चतुर माली जिसकी शोभन दृष्टि में दो सुंदर सुरक्षित सुमन का एकाकार हो—जहाँ एक में पराग है तो दूसरे में मधु, एक में सौंदर्य है तो दूसरे में सौरभ। मालूम पड़ता है, विधाता ने हम दोनों को एक ही वृंत के दो विभिन्न सुमन बनाए थे; पर दोनों की एक ही आत्मा थी—एक ही प्राण थे।

वास्तव में हमारी प्रणय-कहानी बड़ी ही सुकुमार है और दर्द से भरी हुई। हमारा प्रणय-संगीत सहानुभूति का संमिश्रण और शाश्वत सुधा-स्निग्ध स्नेह का निदर्शन ही कहा जायगा। मैं पहले कह आया हूँ—हम लोगों ने कवि-हृदय पाया था। दोनों में अपूर्व समता थी। कभी-कभी तो रात भर जिस तरह कविता की धुन मुझपर सवार होती, ठीक उसी समय, उसी घड़ी में उसपर भी। बहुत बार तो ऐसा पाया गया कि हम लोग दो विभिन्न स्थानों में बैठकर कविता करने बैठते, तो उन कविताओं में भाव-साम्य को कौन कहे, शब्द-के-शब्द, लड़ी-की-लड़ी, एक मिल जाती, उस

समय हमलोगों के हृदय में आनंद का उत्स निर्झरित हो जाता और उसके मधुमय प्रवाह में थपकियाँ लेने पर भी हमलोगों को परितृप्ति नहीं मिलती। यह भाव-सामंजस्य वास्तव में सोना और सुगंध का ही संयोग था।

इस तरह की घटनाएँ हम लोगों तक ही सीमित न रहीं। जिस दिन पहले-पहल मिस्टर राय ने हम दोनों की कविताएँ देखी थीं, उसी दिन उन्होंने आनंदातिरेक से एक प्रकार की यह घोषणा-सी कर दी थी कि विधि-विधान उपेक्षणीय नहीं हो सकता। सांसारिक प्राणी को उसका वशवर्ती होना ही पड़ता है। उसी दिन—हाँ, ठीक उसी दिन—हँसते हुए उन्होंने हमलोगों के बीच कहा था—ईश्वर को—सत्य-शिव-सुंदर मूर्ति को—यह जोड़ी स्वयं पसंद थी, जिसके फल-स्वरूप उषा ने सुशील को पाया और सुशील ने उषा पाई। यह परमात्मा की इच्छा है—आकांक्षा है। इसका मुझे अभिमान है और कदाचित तुम दोनों को भी होना चाहिए। उसी प्रसंग में उन्होंने कहा था—प्रणय है क्या? दो हृदयों का नहीं, दो आत्माओं का संमिश्रण ही तो है—दो आत्माओं का एकाकार हो जाना ही तो प्रेम है—प्रणय है। यह कोई बात नहीं कि प्रणय के लिए सजातीय प्राणी ही चाहिए। माना कि तुम दोनों दो विभिन्न जातियों में उत्पन्न हो, पर इससे क्या? इससे क्या, दोनों में प्रणय नहीं हो सकता? मैं उस रूढ़िवाद को नहीं मानता जो प्रणय के मूल्य को नगण्य मान स्वेच्छा से दोनों को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक सूत्र में बाँधने का आयोजन करता है शिक्षित।

समाज को अपनी विवेकशीलता से काम लेना चाहिए। उन्हें थोड़े समाज के व्याधिग्रस्त नियमों से उन्मुक्त रहना चाहिए।

हम दोनों के बीच वाह्यप्रतिबंध अवश्य था, पर हमलोग एक दूसरे के प्रति अवश्य खिंच गए थे। फिर भी हमारा प्रणय शारीरी न था। दोनों का सोना-बैठना, स्टडी करना विभिन्न कमरों में था सही फिर भी हम दोनों का इकत्रित हो जाना अवसर पड़ने पर अनियम नहीं था। आज्ञा थी अभिभावक की, विश्वास था एक दूसरे पर! कदाचित् यह भी हो सकता है कि वे हम लोगों के प्रणय में, गुप्त रूप से सहायक भी हों। जो हो, हमलोग अवसर मिलने पर एक साथ हो सकते थे—होते थे। अकसर उषा ही मेरे कमरे में आती थी; मैं बहुत कम, वह भी अवसर आने पर ही, उसके कमरे में जाता था। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि उषा कुछ समझने-बूझने के लिए रात को एक बजे दो बजे, जब आवश्यकता होती, मेरे कमरे में दौड़ पड़ती। उस समय यदि मैं सोता हुआ होता तो वह मुझे उठाकर बातें पूछती—अपनी शंका का समाधान कराती। इसमें किसी प्रकार का प्रतिबंध न था न कोई अड़चन ही थी।

१९

मिस्टर राय जितने ही बाहर के कड़े थे उतने वे भीतर के कोमल भी। उनका छोटा-सा परिवार था। उसमें उषा ही उसकी आत्मा थी।

उषा माँ, पाँच वर्ष पहले, स्वर्ग-वासिनी हो चुकी थीं। मिस्टर राय ने उसके बाद किसी रमणी की ओर आँख उठाकर न देखा फिर पुनर्विवाह की तो बात ही दूर रहे! घर पर जमींदारी थी—संपत्ति का बाहुल्य था, ख्यातनामा बारिस्टर थे—खासी आमदनी थी। घर पर कई दाइयाँ थीं, नौकर थे, रसोईदारिनें थीं, रसोइए थे। जब जी में आता, उसी प्रकार का भोजन बनवाते भोजन का शौक था, फिर भी भोजन में सादगी थी।

पर, इसी बीच में मुझे एक ऐसा अपवाद सुनने में आया जिसपर मुझे विश्वास ही नहीं जमता। यह अपवाद, संभव है, लोगों ने ईर्ष्या से प्रेरित हो उन्हें बदनाम करने के विचार से फैला रखा हो। शायद यह भी कारण हो सकता है कि मुझे वहाँ से भड़काने के विचार से उनके विपत्तियों ने कहा हो। जो हो, अपवाद यह था कि उषा रक्षिता कन्या थी। वह (रक्षिता) बाल-विधवा थी, विजातीय थी; पर प्रणय-पाश में आबद्ध हो, अथवा सुधारक के नाते, समाज की अवहेलना कर मिस्टर राय ने उसे विवाहिता-पत्नी के रूप में स्वीकार कर अपने घर में रख छोड़ा था। उन्होंने जो-कुछ किया था—जान-बूझकर किया था न कि केवल 'अभिन्न-हृदय मित्रों' के उसकाने पर ही, पर जब उन्होंने बाल-विधवा को अपने घर में स्थान दे दिया तब समाज के क्रूर प्रहार उनपर चलते रहे। मिस्टर राय इन प्रहारों से अवश्य तिलमिला उठे। ऐसे समय में 'अभिन्न-हृदय' कहलानेवाले मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया। इससे उन्हें चोट तो अवश्य

पड़ी, पर अपने को उन्होंने सँभाला और मुस्तैदी से उन कठिनाइयों का सामना करते रहे। वे अपने विचार पर दृढ़ हो गए। अपने आत्मबल पर उहनेंने समाज को धता बता दिया फिर भी बदनामी से अपने को बचा न सके। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं भी सभी की दृष्टियों से गिर पड़ा। वे जाति-च्युत थे। कोई भी उनके घर पर खाने का साहस न कर सकता और मैं प्रकट रूप से न केवल उनके यहाँ पढ़ा ही करता वरन् भोजन भी वहीं, उन्हीं के साथ, और एक ही चौके में, एक ही टेबुल पर किया करता। परिणाम-स्वरूप, रूढ़िवाद के समर्थक मेरे साथियों ने मेरा मजाक उड़ाना प्रारंभ किया, कितनों ने मेरी अजीब-अजीब खिल्लियाँ उड़ाईं, साथ छोड़े। दुष्टों ने मेरे घर तक खबर दी। बड़े भैया ने न केवल डपट ही बताई वरन् यहाँ तक मुझे लिख मारा कि मुझे अपनी संपत्ति से हाथ धोना पड़ेगा। छोटी भाभी मुझ पर जल-भुन गईं, बड़ी झल्लाईं ; किंतु उनकी विशाल-हृदयता का मैं क्या निर्देशन करूँ! . उन्होंने अपने पत्र में संकेत किया था—कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझकर ही करना चाहिए चाहे वह लोगों की दृष्टि में अकरणीय ही क्यों न हो। जो कुछ आपका व्यवहार हो—सच्चाई का हो, आत्मोन्नति का हो और आदर्शमय हो। समाज जिसे गर्हित समझता है वह कहाँ तक गर्हित और त्याज्य है, उसे आप अपनी कर्त्तव्य-बुद्धि की माप से तौलें। सभी के निजी-कुछ विचार होते हैं और परमात्मा ने सभी को गुण-दोष-विवेचना की शक्ति दी है, आपको उस शक्ति से काम लेना

चाहिए। मुझे अभिमान है आप पर और वह इसलिए कि आपने अपनी वह शक्ति पहचानी है और उसका सदुपयोग करने की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। आदि-आदि .....।

अब से मैं जब कभी उषा की ओर देखता, तभी मेरे हृदय से एक आह, स्पष्ट वेदना-सी, आप-ही-आप निःसृत होती। मैं विचार-तरंग में डूब जाता और जब उषा मुझे अन्यमनस्क देख पाती तो कहती—क्यों मुझसे कुछ भूल तो नहीं हुई है, सुशील बाबू ? फिर क्यों आप उदास दीख रहे हैं ? उस समय मैं चैतन्य होकर मन-ही-मन कहता—उषा उपेक्षणीय नहीं हो सकती और प्रत्यक्ष रूप से उदास तो नहीं हूँ, उषा ! तुम तो यों ही बका करती हो। और यह कहना तो तुम्हारा और भी व्यर्थ है कि तुमसे मेरी कुछ भूल हुई है। उस समय उसके सौम्य मुख मंडल पर एक दीप्ति-सी बोध होती, उसकी समुज्ज्वल हास्य-रेखा उसके अधर-पल्लवों को आंदोलित कर देती, प्रफुल्ल बादाम-सी मादक आँखें आनंद विभोर हो विहँस पड़तीं। मैं अपने को सँभाल नहीं सकता ? उसके रूपासव का छलकता प्याला ओठों से लगाने को उद्वेलित हो उठता, पर दैवी शक्ति अप्रत्यक्ष रूप से मुझे ऐसा करने को सावधान कर जाती।

एक दिन रात्रि के समय डेढ़ बजे, जब कि प्राणि-मात्र स्वप्निल जगत में विचरण कर रहा था, उषा मेरे कमरे में आई। उसने आते ही बिजली का बटन दबाया। पैरों की कुछ आहट, कुछ तीव्र प्रकाश की गर्मी पाकर मेरी निद्रा टूट गई, मैंने आँखें खोलीं,

देखा—देखा शुभ्र-वसना उषा सामने खड़ी है और उसने हाथ में मखमल की जिल्द बँधी सुंदर कापी है। मैंने पूछा—क्यों, अब तक सोई नहीं उषा ! इतनी रात को........!

"हाँ, देखो मेरे मास्टर, मेरी इस कविता को !"—हँसते हुए उषा ने कहा और कापी सामने रख दी। वह बिछावन के एक सिरे पर बैठ गई।

"तुम्हें तो कविता का रोग लग गया है !"—मैंने मुस्कराते हुए कहा, "देखता हूँ, कविता को तुम छायावाद भी रहने न दोगी। यह रहस्यवाद तो मैंने बड़े-बड़े कवियों में नहीं पाया।"

"वाह ! क्या कहना ! लजाने को मैं ही पड़ी थी, सुशील बाबू ! इतनी गंदी कविता को आप इतना ऊँचा आसन देते हैं—यह बनाना नहीं है तो क्या है ! ....और यह रोग तो आपका ही लगाया है न ! फिर मुझपर दोष क्यों मढ़ रहे हैं ?"

मैंने उसकी स्पष्टवादिता पर हँसते हुए कहा—दोष नहीं मढ़ता ! मैं तो स्वीकार करता हूँ। पर, देख रहा हूँ—गुरु से चेला ही इस क्षेत्र में आगे निकल रहा है।

"फिर आप बनाने लगे न !"—झुँझलाती हुई उषा बोल उठी "ऐसा कहेंगे तो मैं अब से बनाना ही छोड़ दूँगी ! आप बड़े वैसे हैं ! हाँ, सच कहती हूँ।"

"नहीं, उषा, इसमें बिगड़ने की कुछ बात नहीं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ—सच्ची कह रहा हूँ। देखो—इतने ऊँचे भाव बिना अंतस्तल की अनुभूति के कभी संभव नहीं। जबतक कवि तन्मय

नहीं हो जाता, एकांत-संवेदी नहीं हो जाता, तबतक कविता कर ही नहीं सकता, तबतक उसकी कृति में अमरता आ ही नहीं सकती।"

यह मेरी अंतरात्मा की स्पष्ट वाणी थी जो मैंने उषा के सामने सरलतापूर्वक रख दी।

वास्तव में उसकी कविता में माधुर्य था, सौष्ठव था, सरलता थी, मोहकता थी—सजीवता थी और सबसे अधिक कलामय थी। मैं जितनी ही बार उसे पढ़ता, उसपर विचार करता, उतना ही उसमें मुझे अभिनव आनंद ही मिलता। मैंने उसके अंतस्तल में प्रवेश करके देखा, देखा—वास्तव में उषा का हृदय कितना सुकुमार है, कितना सरल है किंतु, आह, कितना विषाद-पूर्ण! मैंने भावावेश में आकर एक बार उसके विषाद-पूर्ण मुख-मंडल पर दृष्टि डाली, देखा—दारुण यंत्रणा की अस्पष्ट—धुंधली-सी क्षीण रेखा उसके ओठों पर छा रही है और, आह, उसके नेत्र? मानो बाँध तोड़कर अथाह गति से निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है। देखा उसके हाहाकारपूर्ण हृदय को, अशांत अंतस्तल को, संक्षुब्ध आत्मा को और कदाचित यौवन की मादकता को भी! मुझसे शांत न रहा गया। मेरी अंतरात्मा नाच उठी, नश-नश में बिजली दौड़ गई। मैं अपने को सँभाल न सका सँभाल सकता ही कैसे? मैं उसकी सुकुमार उँगलियों को दबाते हुए कह उठा—क्यों-क्यों, उषा, तुममें यह भाव परिवर्त्तन क्यों?

उफ़, उसके स्पर्श में कैसा जादू था? सच कहता हूँ, मेरी हृत्तंत्री झंकृत हो उठी, मेरी चेतना विलीन हो गई, और उषा?

आह, अनाथिनी थी वह ! उसने अंग-भार को गोद में छोड़ दिया, वह मेरी ओर झुक गई जिस तरह वल्लरी पादप की ओर अनायास ही झुक जाती है। मेरा हृदय पागल हो उठा। मैंने अपने दोनों हाथों से उसके मुख-मंडल को इषत् उत्तोलन करते हुए उसके सुधास्निग्ध अधरप्रदेश पर स्नेह का कंपन पैदा कर ही दिया। आह, वह कितना आकर्षक था—कितना संमोहक ! उषा तन्मय हो गई।

किंतु मेरी यह जड़ता क्षणिक थी। मैं चौंक उठा, उषा भी चौंक उठी। दोनों नीरव थे—निस्पंद थे ! किंतु उषा की मुख-मुद्रा में परवर्तन परिलक्षित हो रहा था।

मैं कुछ क्षण के बाद लज्जित स्वर में बोल उठा—उषा !

उषा की आँखों मे नारि-सुलभ लज्जा थिरक उठी, किंतु मुख-प्रदेश पर एक गहरी लालिमा की अटूट छाप थी। मैंने उसे फिर से पुकारा—उषा !

उसने आँखें नीची किए ही अस्पष्ट शब्द में कहा—क्या है ?

वह बिछावन से उठ खड़ी हुई। वह बाहर जाने को उद्यत ही थी कि मैंने उसके हाथ को अपने हाथ मे लेते हुए नम्रतापूर्वक कहा—क्षमा न करोगी, उषा !

उषा ने कुछ भी उत्तर न दिया। वह बिना कुछ प्रत्युत्तर दिए ही अपने हाथ को खींचकर बाहर की ओर चल दी। मैं उसकी ओर देखता ही रह गया।

२०

उस गंभीर रजनी में, उषा के चले जाने पर, मैं न जाने क्या-क्या सोचता रहा—पता नहीं। नींद लाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया, पर कोई फल नहीं। मैं अपने कर्त्तव्य पर स्वयं संक्षुब्ध हो उठा था, हृदय में तूफान मचा था। मुझे अपने व्यवहार पर आप ही रोष हो रहा था! उफ़? उषा क्या समझती होगी? उसकी आत्मा को न जाने कितनी चोट पड़ी होगी! हायरे पतन!

मेरी अशांति बढ़ चली थी। मैं बिछावन पर लेटा न रह सका। मैं संक्षुब्ध हो उठ पड़ा। इच्छा हुई—चलकर उषा से क्षमा मांग आऊँ! पर, साहस न हुआ। उषा विना कुछ बोले ही चली गई थी! प्रातःकाल किस तरह वह जलपान लेकर मेरे पास पहुँचेगी? किस तरह उसके सामने मैं अपना सिर उठा सकूँगा—और किस तरह मैं उसे कुछ बता सकूँगा—पढ़ा सकूँगा। सचमुच मैंने उसके साथ अन्याय किया है? वह पवित्र है—जाह्नवी-सी पवित्र है! चंद्र-ज्योत्स्ना-सी निर्मल है? उफ, उसके साथ यह अन्याय।

वह मेरे लिए प्रलय की रात्रि थी! एक-एक क्षण सर्प-दंशन-सा विषाक्त बोध हो रहा था? मेरे मानसिक-जगत में तुमुल युद्ध छिड़ा था और हृदय में कराल काल के भैरवनाद का अट्टहास था। मैं स्थिर न रह सका। बिछावर पर आ लेटा। रात-भर यही दशा रही। किसी तरह प्रातःकाल हुआ। बाल सूर्य की सुनहली छाया

प्रतिभासित हुई, धीरे-धीरे किरणें प्रस्फुटित हुईं। मैं नित्यकर्म से निवृत्त होकर अध्ययन पर बैठ गया।

समय आया और दाई जलपान का सामान लेकर कमरे में आ पहुँची। उसने सभी सामान टेबुल पर सजा दिए। उसे देख-कर मैं सिहर उठा—भयभीत हो उठा। कारण था—प्रातः-जल-पान स्वयं उषा लाकर कराती; पर, आज वह कहाँ है ? मेरी दृष्टि यद्यपि पुस्तक पर गड़ी थी फिर भी हृदय में हाहाकार मेरी आँखों के सामने नाच उठा। मैं फिर निगूढ़तम चिंता-स्रोत में बह चला, पर कहीं भी थाह न मिली। दाई न जाने कब सभी सामान चुप-चाप रख चली गई थी।

मैंने अप्रत्याशित आशा से द्वार की ओर आँखें फेरीं, कुछ आहट सुन पड़ी, हृदय की तंत्री बज उठी, बोध हुआ—उषा आ रही है ! मैं उत्फुल्लतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा ! पर, लो, यह क्या ? उषा न थी, थी वही दाई ! वह पान का बीड़ा टेबुल पर रखती हुई बोल उठी—यह क्या ? बाबूजी, अभी तक आपने जलपान न किया ! चाय ठंढी हो गई होगी।

मैंने उसकी ओर सिर उठाकर देखा। वह कदाचित् मेरा मतलब समझ गई।

वह मुस्कुराती हुई बोल उठी—आज दीदी (उषा) की तबीयत अच्छी नहीं है। ठाकुर ने जलपान बनाकर भेजा है। आप उसी की आशा में तो नहीं बैठे हैं, बाबूजी !

मैं आश्चर्य प्रकट करते हुए बोल उठा—क्या कहा ? तबीयत अच्छी है या नहीं है ?

"नहीं, बाबूजी !"—उसने जाते हुए कहा, "अभी-अभी मैं उनके कमरे से आ रही हूँ। उनसे पूछने पर मालूम हुआ—इनकी तबीयत अच्छी नहीं है।"

"पर, तबीयत खराब होने की ऐसी कोई बात न थी !"—मैंने उत्सुकता से किंतु भीत होकर पूछा।

"क्या क्या बताऊँ, बाबूजी !"—उसने स्पष्ट शब्दों में कहा, रात-रात-भर तो जागकर पढ़ा करती है, आखिर आदमी ही तो ठहरी ! ज्यादा जागने से कब तबीयत अच्छी रह सकती है।"

वह एक ही साँस में बोलकर आगे बढ़ी फिर आप ही आप मुड़कर लौट आई और बोल उठी—"क्या कुछ कहिएगा, बाबूजी ? कहें तो मैं उनसे जाकर कह दूँ !"

"नहीं, आराम करने दो उसे !"

वह भीतर की ओर चली गई।

मैंने चिंता में पड़े-पड़े कुछ जलपान किया, चाय ठंढी हो चुकी थी, मैंने उसे छुआ तक नहीं। जल पी लिया और मुँह-हाथ धोकर पढ़ने को बैठ गया।

नौ-सवा नौ के करीब दर्वाज पर मोटर की आवाज सुन पड़ी। मैंने खिड़की की राह से बाहर की ओर देखा। देखा—डक्टर बाबू—वही मेरे सुपरिचित डाक्टर बाबू—आए हुए हैं। मैं उन्हें देखकर आश्चर्य, चिंता और उद्वेग से अभिभूत हो उठा। पर,

इतना साहस मुझमें न था कि चलकर मैं उनसे हॉल में मिलूँ! अशांत-हृदय लेकर उनके सामने मैं जा ही सकता था कैसे? पर, मैं बच न सका। दो मिनट भी बीतने न पाया था कि डाक्टर बाबू के साथ मिस्टर राय ने आकर कहा—चल चलो भीतर! तुम्हें मालूम होगा—उषा बीमार पड़ गई है। डाक्टर बाबू भी साथ ही बोल उठे—आइए सुशील बाबू, जरा देखें तो उषा को।

मैं क्या करता? उन दोनों के साथ हो लिया।

डाक्टर ने नब्ज देखी, थर्मामिटर लगाया, ज्वर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। डाक्टर बाबू ने कहा—अभी ज्वर कुछ और बढ़ेगा, पर भय नहीं है। मैं Prescription दिए देता हूँ, दवा मँगाकर प्रत्येक दो-दो घंटे पर देते रहेंगे। जल्द अच्छी हो जायगी।

मिस्टर राय ने खुद नाड़ी देखी, सिर को स्पर्श किया और विस्मित होकर बोल उठे—यह अचानक ज्वर कैसे आ गया, डाक्टर?

"अचानक ज्वर आने के कई कारण हो सकते हैं, मिस्टर राय!"—डाक्टर ने गंभीरतापूर्वक कहा, अत्यधिक उल्लास से अथवा अतीव मनस्ताप से आकस्मिक ज्वर आ जाता है, और ऐसा ज्वर बहुत अधिक काल तक नहीं रहता। यह कोई अघटनीय घटना नहीं है, मिस्टर राय।"

मैं उस समय बंदी के रूप में खड़ा था। मेरे मुख पर विषाद की कालिमा घिर आई थी, यद्यपि मैं अपने को सँभालने का असफल प्रयत्न कर रहा था।

हम लोग बाहर की ओर चल पड़े। रास्ते में डाक्टर ने मेरी ओर मुखातिब होकर मुझसे कहा—क्यों, मिस्टर अभी आप इतना क्यों घबरा रहे हैं? मिस राय जल्द अच्छी हो जायँगी। साथ ही मिस्टर राय बोल बठे—अजी, घबराने की कौन-सी बात है, सुशील! आखिर शरीर ही तो है। सर्दी-खाँसी हुआ ही करती है! देखो, वह जल्द अच्छी हो जाती है!

मैं डाक्टर साहब की बात पर मन-ही-मन जल-भुन रहा था। एक तो मैं उषा के सामने अपराधी था ही, ऊपर से उनका विष उगलना! उफ् यदि मैं भी बीमार पड़ गया होता! उषा ने मेरी ओर धोखे से भी आँख उठाकर न देखा! यह अपमान! नहीं, यह मेरे पापों का प्रायश्चित्त है! उफ़्!

कई दिन बीत गए। धीरे-धीरे उषा का ज्वर शांत हो चला; पर निर्बलता कुछ अधिक थी! शरीर नितांत पीला पड़ गया था, केवल मुख की श्री नाम-मात्र के लिए अवशिष्ट बच गई थी।

मैं मन-ही-मन अपने को कोस रहा था इसलिए कि उषा की अस्वस्थता का मूल कारण मैं ही था। मैं अहर्निश डाक्टर बाबू की बातों का—उन बातों का जो उन्होंने कहा था—अत्यधिक उल्लास और अतीव मनस्ताप से अचानक ज्वर का प्रकोप होता है—विश्लेषण किया करता; पर, मैं दो में से एक को भी निश्चित नहीं कर सकता। मैं विचार करने लगा—संभव है, उषा को मेरे अत्यधिक आनंद की अनुभूति हुई हो, ...पर, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो फिर वह क्यों मेरी अवज्ञा

कर चली जाती ! क्यों उसके मुख-मंडल पर परिवर्त्तन के भाव दीख पड़ते ?........तो क्या उसे मेरे व्यवहार से खेद हुआ है ? संभव है, मेरी जघन्यवृत्ति से उसे खेद ही हुआ हो। मनस्ताप हुआ हो। तो क्या यही मनस्ताप उसके ज्वर का कारण है ? मनस्ताप ! और मेरे व्यवहार से ! मैंने अवश्य उसका अपमान किया था, संदेह नहीं, पर, मैंने क्षमा भी तो माँगी थी ? हाँ, माँगी थी और उसने जाने के समय यद्यपि बरबस अपने हाथ को खींच लिया था फिर भी उसके मुख पर सौम्यता थी ? क्या वह मेरे गुरुतर अपराध को क्षमा नहीं कर सकती ! इतनी हृदय-हीन तो वह नहीं है।

इसी विचार-शृंखला में मैं आबद्ध था कि फोन की घंटी हॉल में बज उठी। वहाँ और कोई था नहीं। मिस्टर राय भी किसी काम से बाहर चले गए थे। अतः मैं ही फोन पर गया और उसे उठाकर मैंने आवाज दी। डाक्टर बाबू पूछ रहे थे—उषा की तबीयत कैसी है ! उससे पूछकर कहिए। मैंने फोन को रख दिया और बाहर की ओर नौकरों को देखने लगा। मैंने आवाज दी, भीतर से दासी दौड़ी आई। मैंने उससे कहा—जा जरा, उषा से पूछ आ तू—वह कैसी है। डाक्टर बाबू फोन पर पूछ रहे हैं।

वह जाते-जाते रुककर बोल उठी—हैं तो अच्छी, मगर बाबू जी, जरा आप ही चलकर अपने से पूछ क्यों नहीं लेते ? आइए न !

मैं जरा चिंता में पड़ गया। पर, कुछ ही क्षण के बाद इच्छा

हुई—मैं ही चलकर क्यों न पूछ आऊँ ?—मिलने का बहाना भी तो है ? मैं उसके साथ हो लिया।

उषा अपने कमरे में कुर्सी पर बैठ चित्रावली के पन्ने उलट रही थी। मैं पीछे से उसकी उत्सुक दृष्टि को देखने लगा। दासी भी पीछे से आकर उषा से बोल उठी—दीदी, बाबू जी पीछे खड़े हैं।

उषा ने मुड़कर मेरी ओर देखा—और कुछ लज्जित होकर उठने को तत्पर हुई। मैं शीघ्रता से बोल उठा—बैठो, फोन से डाक्टर बाबू पूछ रहे हैं कि तबीयत कैसी है ? वह अभी फोन पर खड़े होंगे। उन्होंने कहा है—तुमसे पूछकर उन्हें खबर दी जाय।

"अच्छी हूँ, खबर दे दें।"—उषा ने अन्यमनस्क होकर कहा।

मैं बाहर की ओर द्रुतगति से चला आया और डाक्टर बाबू को उसकी सूचना दे दी।

मुझे उषा से मिलने का अवसर अनायास ही हाथ लगा था और उसका सदुपयोग किया भी तथापि इस अवसर से मुझे आनंद प्राप्त न हुआ। मैं समझता था कि उषा ने मुझे क्षमा कर दिया होगा—पर व्यर्थ ! यहाँ तो उसकी बात में तीक्ष्णता ही मिली। फलस्वरूप मेरे मस्तिष्क-सिंधु में ज्वार-भाटे का उत्थान-पतन होने लगा।

जो हो, मैं उषा के रूखे व्यवहार से तिलमिला उठा। मैंने इसे अपमान समझा और अपमान सहन करना मेरे लिये बड़ा कठिन

था। फिर भी मिस्टर राय की वात्सल्यपूर्ण स्नेह-स्निग्धता में कोई अंतर मुझे दीख न पड़ा। यही कारण था कि मैं इस अपमान को विष-सा समझते हुए भी, भीतर-ही-भीतर, पी रहा था। वास्तव में ये कुछ दिन मेरे लिए निरानंद और कष्टकर थे।

हठात छोटे भैया का तार मिला। उन्होंने लिखा था—अविलंब घर आओ। आवश्यक कार्य है।

तार मिस्टर राय के नाम से था, अतएव पहले उनके हाथ लगा। उन्होंने मुझे बुलाकर तार के संबंध में कहा। मैंने तार पढ़ा और उनसे कह सुनाया। मैं सोच रहा था—हठात् मेरी कौन-सी जरूरत आ पड़ी? वे भी सुनकर घबराए। मुझसे कारण की जिज्ञासा की, पर, मैं तो स्वयं नहीं जानता था—उनसे क्या कहता!

उन्होंने शीघ्र यात्रा की तैयारी कर दी। मैं उधर भोजन करने में व्यस्त हुआ। उस समय इच्छा थी—एक बार उषा से मिलकर अपने घर जाने के संबंध में कह सुनाऊँ, पर मुझे उससे मिलने का साहस न हुआ। पर, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा कि मैं एक पत्र लिखकर छोड़ जाऊँ। कम-से-कम उसमें क्षमा तो जरूर माँग लूँ। फल-स्वरूप, मैं अपने कमरे में आकर पत्र लिखने में व्यस्त हुआ। उसमें लिखा था—

"स्नेह की उषा,

उद्वेगवश मैं तुमसे न मिल सका यद्यपि तुमसे मिलने की विशेष आवश्यकता समझता था। मैं अचानक छोटे भैया का तार पाकर घर के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। संभव है, मैं शीघ्र न आ

सकूँ। अतएव, तुमसे अनुरोध है, बीती बातों की ओर दृष्टि न डालकर मुझे इस बार क्षमा कर देना। वास्तव में मैं अपने व्यवहार पर आप कुंठित हूँ। मुझे आशा और विश्वास है, तुम्हारे स्नेह-पूर्ण हृदय में मेरे प्रति कोई अन्य भाव न रह सकेगा। हाँ, मैं पत्रोत्तर की आशा में घर पर रहूँगा और जब तक तुम्हारा संतोषजनक पत्र न मिल जायगा, तब तक मैं अशांत ही रहूँगा। शेष—विदा।

तुम्हारा—

सुशील।"

पत्र को लिफ़ाफ़े में डालकर बंद कर दिया और सुंदर अक्षरों में उसपर उषा का नाम लिखा दिया। दासी पान देने को मेरे कमरे में आई थी उसे दिखाकर पत्र दराज में रख छोड़ा और उससे कह दिया कि मेरे जाने के बाद उसे निकालकर उषा को दे देना।

कुछ ही क्षण के बाद सोफ़र मुझे बुलाने आया। मैं मिस्टर राय से मिलने को हॉल में पहुँचा। मैंने उन्हें पाँव छूकर प्रणाम किया और उनसे जाने की आज्ञा माँगी। उन्होंने राह-खर्च के लिए रुमाल में बाँधकर कुछ नोट दिए। मैं उसे जेब में डालकर बाहर की ओर चल पड़ा। उस समय भी मेरे मन में एक यही अभिलाषा थी कि चलकर एक बार उषा के दर्शन तो कर लूँ। पर, निष्ठुर उषा उस समय भी वहाँ उपस्थित न थी। मैं मोटर पर जा बैठा। सोफ़र ने मोटर स्टार्ट किया। मोटर द्रुतगति से चल पड़ी। मैंने एक बार पीछे की ओर मुड़कर देखा—उषा खिड़की की

राह मेरी ओर देख रही है। मैंने दूर से देखा—वह इकटक दृष्टि किए मेरी ओर ही अबतक देख रही है। वह क्या मेरे विषय में सोचती होगी—कौन कह सकता है।

२१

मैं चल पड़ा चिंता और विषाद का भारी गट्ठर लेकर। यथार्थ में यह गट्ठर इतना भारी था कि रास्ते का श्रम मुझे कुछ भी अनुभव न हो सका। चिंता थी इस बात की कि हठात् छोटे भैया के तार भेजने का कौन-सा कारण हो सकता है। रास्ते भर इसी चिंता में रहा। पर, कारण का कुछ भी अनुमान न कर सका। मैं अनेक तर्क वितर्क करते हुए गाँव के निकट आ पहुँचा। पर, घर के निकट पहुँचते ही छोटे भैया का प्रेम और छोटी भाभी का स्नेह-संभाषण मानो आँखों के सामने नाच उठे। मै उसी स्मृति-सलिल में अपने को छोड़ अपने दरवाजे पर आ पहुँचा। बाहर बैठक में बड़े भैया चौकी पर बैठे थे और उनके पास पास-पड़ोस के चार-पाँच जन बैठे हुए कुछ बातों में पड़े थे। हठात् मेरे जूते के चर्र-मर्र को सुनकर सभीं बाहर की ओर देखने लगे। मैंने सीधे बैठक के भीतर प्रवेशकर अपना सूट केस चारपाई पर रख बड़े भैया का पैर छुआ और सभी को पालागन कर वहीं—चौकी के एक सिरे पर बैठ गया। भैया ने अकस्मात् मुझे देखकर कुछ व्याकुलता-भरे स्वर में पूछा—कुशल तो है, सुशील! हठात्.....।

"हाँ, कुशल ही है, भैया! राजी खुशी है न!"

"हाँ, राजी-खुशी ही है। पर, पहले से ही मालूम होता तो मैंने तुम्हारे लिए स्टेशन पर सवारी भेज दी होती न! खैर, आए तो अच्छा ही किया।"

मैं कुछ संदेह में पड़ गया। पर, यह जानकर कि छोटे भैया के तार भेजने की खबर शायद बड़े भैया को न हो। फिर भी मैंने कुछ विशेष न सोचकर उत्तर के रूप में कहा—योंही मैं चल पड़ा, भैया। आपको अपने आने की खबर तक न दे सका।

"अच्छा, कोई बात नहीं।"—भैया ने गंभीरतापूर्वक कहा, "जाओ भीतर, और अपने कपड़े बदल डालो!"

मैं वहाँ से सीधे उठकर भीतर की ओर चल पड़ा।

भीतर आकर देखा—देखा मैंने बाहरी दृश्य को। मुझे कुछ भय का संचार हो आया, फिर भी मैंने साहस बटोरकर बड़ी भाभी को प्रणाम करने के लिए उनके कमरे में प्रवेश किया। देखा—बड़ी भाभी रुग्णावस्था में बिछावन पर पड़ी हैं। मैं देखते ही धीरे से पूछ बैठा—भाभी!

बड़ी भाभी ने आँखें खोलीं। मैंने उनके चरणों को सिर से लगाते हुए पूछा—कब से बीमार पड़ी हैं, भाभी! क्या हुआ है? तबीयत कैसी है?

उन्होंने वेदना के स्वर में कहा-अच्छी हूँ, सुशील, कब आए?

"अभी-अभी आ रहा हूँ मैं, भाभी।......क्या हुआ है?"

"कुछ तो नहीं।"—उपेक्षा के स्वर में उन्होंने उत्तर दिया।

उनके उत्तर में न सरसता थी—न आत्मीयता थी। मैंने समझा—कदाचित् इन्हें कष्ट हो रहा है। मैं वहाँ से निकलकर छोटी भाभी के कमरे की ओर जैसे ही अग्रसर हो रहा था कि मँझली भाभी से आँगन में ही भेंट हो गई। मैं ज्योंही उनकी चरण-धूलि को सिर से लगाना चाहता था कि बीच ही में वे बोल उठीं—यह क्या? अभी आ रहे हो, सुशील? अहा, अच्छे आए।

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि वे मेरा हाथ पकड़कर छोटी भाभी के कमरे की ओर चल पड़ीं। उन्होंने छोटी भाभी से कहा—यह देखो, ज्योति, ये कौन हैं हजरत।

छोटी भाभी वहीं कुर्सी पर बैठी गिरू को खिला रही थीं।

मैंने घर के भीतर जा उन्हें प्रणाम किया और वहीं पलंग के एक सिरे पर बैठ गया। मँझली भाभी दौड़कर पानी ले आईं। छोटी भाभी मुझसे कुशल-समाचार पूछने लगीं।

मँझली भाभी, इसी बीच में बोल उठीं—ज्योति, जरा खत्म करो बातचीत करना। हाँ, सुशील, हाथ-पैर धो लो! बातें तो होती ही रहेंगी।

"हाँ, दीदी, ठीक है!—" छोटी भाभी ने कहा, फिर मुझसे बोल उठीं—"हाँ, सुशील बाबू, पैर तो धो डालें। खोलिए जूते।

मैं जूते खोलने लगा। उठकर बरंडे पर आ पाँव धोए। इतने ही में मँझली भाभी तश्तरी में जलपान लाईं और छोटी भाभी तौलिए से मेरे पाँव पोछने लगीं। यद्यपि मैं मना करता रहा, पर

उन्होंने न माना। मैं जलपान करने लगा। तबतक गिरू भी खा चुका था। मैंने उसे उठाकर गोद से लिया, छाती से चिपकाए रहा। मँझली भाभी वहीं मेरे पास पलँग पर बैठ गईं।

मैंने मँझली भाभी से पूछा—आप कब आईं, भाभी ! आपने तो अपने आने का कुछ भी समाचार न जनाया।

"हाँ, नहीं जनाया, सुशील ! भूल है मेरी। पर, यह तो कहिए, आप किस धुन में इतने मस्त थे कि कभी एक चिट्ठी तक न दी ?"

मैं बहाना ढूँढ़ने में लग गया; पर, बहाना करता ही क्या ? सचमुच मैंने इधर कोई पत्र तो भेजा ही नहीं था। मैं कुछ लज्जित होकर बोला—हाँ, भाभी, गलती है मेरी ! जरा इधर परीक्षा की तैयारी में था, इसलिए·····।

"रहने दीजिए अपनी परीक्षा की तैयारी को ! आपके भाई भी जनम भर परीक्षा के ही फेर में रहे और आप भी ······।"

"हाँ, भैया की इधर कोई चिट्ठी न मिली मुझे। क्या वे यहीं हैं आजकल ? कहाँ हैं, भाभी।"

"जैसे भैया तैसे आप !"—मँझली भाभी ने कहा, "जब आप लोग फिरंट होते हैं घर से, तब भला पल्ला क्यों पकड़ने दें।

"तो क्या वे यहाँ नहीं हैं ?"—मैंने कहा।

"हैं क्यों नहीं ?"

"फिर।"

"फिर क्या !"

"तो आप कैसे कहती हैं कि पल्ला नहीं पकड़ने देते !"

"मजबूरी से पकड़ने देते हैं न !"

"मजबूरी कैसी, भाभी !"—मैंने हँसते हुए कहा।

छोटी भाभी वहाँ से अन्यत्र चली गई थीं।

"अजी, आप बिलकुल अबोध क्यों बने जा रहे हैं !"—भाभी ने मुस्किराते हुए कहा, "मजबूरी हालत में ही तो आपलोग हाथ आते हैं। यह मजबूरी नहीं तो क्या है जिससे मैं अभी आपको यहाँ देख रही हूँ ; नहीं तो आप वैसे जीव थोड़े ही थे जो किसीके कब्जे में आते।"

मैं बड़ी उलझन में पड़ गया। अतएव इसे स्पष्ट करने के विचार से मैं बोल उठा—यह कौन सी पहेली है, भाभी ! जरा इसका भाष्य भी तो कर दें।

"भाष्य !—उन्होंने कहा, "यह कोई नैषध वा कुमार-संभव आदि काव्य तो नहीं है, जो भाष्य की आवश्यकता पड़े।"

"हाँ, मैं तो उनसे भी यह गंभीर काव्य समझ रहा हूँ। जब तक इसका भाष्य नहीं हो लेता तब तक......।"

"तब तक आप इसी कमरे में बैठे रहिए।" कहकर वे हँसती हुई बाहर की ओर निकल पड़ीं और दरवाजे को खटकाकर बाहर से सींकल भी चढ़ा दी।

मैं और भी उलझन में पड़ गया। जो हो, गिरू मेरे साथ था। वह मुझसे जरा हिचक रहा था तो अवश्य, किंतु जब मैंने अपनी

जेब से नारंगियाँ निकाल उसके दोनों हाथों में दे दीं तो वह बड़ा खुश होकर बोला—छुला दो इ को।

मैं छिलका छुड़ाकर उसे एक-एक फाँक खिलाने लगा। वह मुझसे काफी घुल मिल गया था। उसकी तुतली मीठी बातें सुन-सुनकर बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। बात-की-बात में एक घंटे से अधिक समय निकल गया था। करीब नौ बज रहे थे।

इतने में देखा कि, मँझली भाभी ने आकर दर्वाजा खोल दिया और छोटी भाभी ने भोजन की थाली मेरे सामने लाकर रख दी और मुझसे कहा—भोजन कर लें, सुशील बाबू! रास्ते की थकावट होगी।

गिरू मेरी गोद में सो गया था। मँझली भाभी उसे उठाकर अपने कमरे में ले गईं। मैं पलंग से उठकर भोजन करने बैठ गया।

मैं भोजन करने लगा। छोटी भाभी मेरे पास ही बैठकर मुझसे बातें करने लगीं।

मैंने उनसे तार के संबंध में पूछते हुए कहा—छोटे भैया कहाँ हैं? उन्हें देखता नहीं भाभी!

"हैं! कहीं गए होंगे। तार आपको कब मिला था?"

"कल दस बजे दिन को! हाँ, भाभी, भैया ने तार क्यों दिया था? जानती हो?"

"मैं तो नहीं जानती। क्या तार उन्होंने भेजा था?"—वे हँसकर बोलीं।

"तो क्या, तुम नहीं जानतीं, भाभी ?"

"जानूँ कैसे ! जब वे मुझसे कुछ कहें तब न !"

"तो क्या वे तुमसे कुछ नहीं कहते ? यह कभी विश्वास किया जा सकता है ।"—मैंने मुस्किराते हुए कहा ।

"हाँ, विश्वास ही विश्वास है ! आप उन्हीं से पूछ सकते हैं ?

"आखिर कुछ भी तो कहो, भाभी ।"

"कहूँ क्या ? सुशील बाबू ! कुछ कहने की बात हो तब न ?"

"अच्छा न कहो । पर, इतना तो कहो, भाभी, बड़ी भाभी कब से बीमार पड़ी हैं ? उन्हें हुआ क्या है ?"

मैंने देखा—इन प्रश्नों ने उनके हृदय को कुछ विचलित अवश्य कर दिया । उनके मुख-मंडल पर वह सहज-सरल मुस्कान न रही। उन्होंने उत्तर के रूप में कहा—यों ही; सामान्य ज्वर है । यही दो-चार दिनों से बराबर ज्वर रहा करता है ।

"पर, कमजोर तो बहुत मालूम पड़ती हैं, भाभी ?"

"नहीं, उतनी तो नहीं मालूम पड़तीं । आखिर ज्वर ही तो ठहरा ! अब तो अच्छी हो चली हैं ।"

"अच्छा, वह कहाँ है, देखता तो नहीं ?"

"कौन ?"

मैं लजा रहा था उसका नाम लेने में ! पर क्यों ?—पता नहीं । पर इतने में वह बोल उठीं—किसके बारे में पूछ रहे हैं ? भैया के बारे में ?

मैं हँस दिया । हँसी मुझसे रोकी न गई । वह भी हँस

पड़ीं—बोलीं—इतने चालाक तो न थे, सुशील बाबू! देखती हूँ—इस बार आपको कुछ नवीन अनुभव प्राप्त हुआ है! क्या यह श्रीमती उषा रानी की..........नहीं, माफ कीजिएगा सुशील बाबू।

"कौन-सी चालाकी, भाभी? मैंने तो कोई चालाकी आपसे नहीं खेली। क्यों नाहक श्रीमती को आप कोस रही हैं।"

"फिर चले मुझसे ही उड़ने! अच्छा रहने दीजिए!"

इतने में मेरा भोजन भी निःशेष हो गया था। मैं मुँह-हाथ धोकर बैठा। मँझली भाभी ने पान के बीड़े दिए। मैं बाहर की ओर जाने को उद्यत हुआ कि इतने में छोटी भाभी बोल उठीं—बाहर से अपने बड़े और मँझले भाइयों को भेज दीजिएगा भोजन करने को। अच्छा।

मैंने हँसते हुए उनसे कहा—और छोटे भैया को नहीं?

"वे खाकर कहीं बाहर गए हैं। उनकी जरूरत नहीं है। हाँ, उन्हें कहकर आप अपने कमरे में आकर सो रहिएगा!

मैं बैठके में गया। मँझले भैया के भी दर्शन हुए। उनको मैंने प्रणाम किया। उन्होंने आवश्यक कुशल-समाचार पूछे। मैंने कहा—जाइए, भोजन कर लीजिए। भीतर बुला रही हैं।

उन्होंने कहा—जाकर कहो बड़े भैया को! कमरे में लेटे होंगे!

वे लेटे हुए थे। मैंने उन्हें जगाकर कह दिया—भोजन करने को। इसपर उन्होंने कहा—तबीयत कुछ भारी मालूम पड़ती है। मैं नहीं खाऊँगा—भीतर कह देना। मैंने वहाँ से आकर मँझले भैया से उनकी बातें कह दीं। वे भीतर चले गए। कुछ देर तक मैं

वहीं पड़ा रहा। इसके बाद मेरी आँखें कुछ झपकने लगीं। इसलिए मैं अपने कमरे की ओर चल पड़ा। वहाँ आकर देखा—बिछावन सजी सजाई तैयार है। मैं चुपचाप उसपर पड़ रहा।

रात-भर मैं लेटे-लेटे ही घर की पहेली सुलझाता रहा, पर कुछ न सुलझा सका। जो हो, रास्ते की थकावट के कारण न जाने कब मुझे नींद लग गई। मैं घोर निद्रा में अभिभूत हो गया।

२२

यों तो भविष्य का पता लगाना बड़ा ही दुरूह और कठिन है फिर भी आगत आशंका अवश्य ही भावी की सूचना दिए ही देती है। ठीक यही सिद्धांत मेरे जीवन से संबंध रखता है। मैं घर आकर अवश्य ही आगत आशंका से अस्थिर हो चला था पर मेरी बुद्धिमती छोटी भाभी ने एक विलक्षण युक्ति से मेरी अस्थिरता भंग कर ही दी। फिर भी घर की दुरवस्था मेरे हृदय-पटल पर अपनी दानवीदर्प की छाप छोड़ती ही गई। मैं उसके कोप से अपने को बचाने में सक्षम न हो सका।

दूसरे दिन तड़के उठकर नित्य-कर्म से छुट्टी पा, वायु-सेवन को बाहर की ओर चल पड़ा। रास्ते में गाँव के कितने आदमियों से भेंट ई, कितनों ने मुझसे कुशल-समाचार पूछे, कितनों ने आशीषें दीं और कितनों ने मुझसे तरह-तरह की बातें कीं। मैं जिधर को निकल पड़ता उधर ही सभी की दृष्टि दौड़ पड़ता। मैं

अपने को भाग्यवान समझता। पर, लोगों की आँखों में करुणा और हृदय में सहानुभूति मेरे प्रति क्यों थी, इसका पता लगाना मेरे लिए कठिन था, फिर भी यह निश्चय था कि मुझ-जैसे अभागे युवक की आगत विपद् की संभावना ही इसका प्रधान कारण हो सकती है।

जिस किसुन-जैसे बाल्य-सखा से भी मुझे घृणा हो गई थी, बहुत दिनों के बाद, दूर से आने पर उसके प्रति उस बाल्य-सुलभ मैत्री का स्रोत मेरे अंतर्प्रदेश में प्रवाहित हो चला। मैं अपने को रोक न सका। चल पड़ा उसके घर की ओर! कोई दस बजे दिन होगा। मैं इस उल्लास से दरवाजे को बिना खटखटाए, बिना उसका नाम पुकारे, भीतर घर की ओर चल पड़ा था कि वह मुझे अचानक देखकर अतीव प्रसन्नता प्राप्त करेगा! पर, बात कुछ दूसरी ही हुई! मैं जैसे ही उसके दर्वाजे को पारकर भीतरी आँगन को लांघता हुआ घर के बरंडे पर पहुँचा था कि मैं सन्न-सा रह गया, मेरे पाँव ज्यों-के-त्यों पड़े ही रह गए। मैं एक कदम भी आगे न बढ़ सका। उफ़-उफ़! यह क्या? किशोरी! यहाँ कैसे? ऐसी नीचता? यहाँ तक पतन? मुझसे प्रतिज्ञा करके मुकर गई! छिः, नारि-हृदय की कामुक पिपासा! मैं कुछ काल तक ज्यों-का-त्यों ठिठका खड़ा ही रहा। देखा—किशुन टेबुल पर भोजन कर रहा है और किशोरी प्रेमाधिक्य से विहँस-विहँस-कर बातें करती हुई पंखा झल रही है। और आगे न कहूँगा।

क्षण-भर के भीतर ही रोष से मैं इतना जल-भुन गया

कि मैं किशोरी का यहीं वध कर दूँ जिसने मुझे धोखा दिया। और किसुन को इतना पीटूँ कि बच्चा जनम भर मेरा नाम लेता रहे। कारण था, मैं उसकी उच्छृंखलता और पशुता को अच्छी तरह जानता था। मैं चाहता तो यह था कि चेतावनी के रूप में किसुन से कुछ कह दूँ, पर मैंने ऐसा किया नहीं। मैं वहाँ से उलटे पाँव लौट चला। मैं आँगन को पारकर जैसे ही अग्रसर हो रहा था कि भीतरी कमरे से दो स्पष्ट अट्टहास एक साथ ही सुन पड़े। यह अट्टहास वास्तव में मेरे परिहास का कारण मात्र था। मुझसे सहा न गया फिर भी अपने हृदय को प्रतिहिंसा के भाव से भरकर मैं अपने घर की ओर चल पड़ा।

भोजनोपरांत ग्रीष्म की दुपहरी काटने को मैं अपने बिछावन पर सुख की नींद ले रहा था। छोटी भाभी न जाने कब वहाँ आकर मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। पर, जब वे जल से भींगा पंखा लेकर झलने लगीं मुझपर, तब मैंने चौंककर आँखें खोल दीं। मैंने सामने बैठी हुई देखा छोटी भाभी को। मैं बोल उठा—कब से बैठी थीं भाभी !·· ······बड़ी गर्मी है।

हाँ बड़ी गर्मी है आज ! मैं तो अभी तुरत आई थी। सोचा—आप अकेले पड़े-पड़े न जाने क्या सोचते होंगे। अच्छा, उठिए सुशील बाबू! मुँह धो लीजिए। मैंने शर्बत बना रखा है। बड़ा ठंढा है।

मेरी नींद करीब-करीब पूरी हो चुकी थी। इसलिए मैंने अँगड़ाइयाँ भरकर मुस्कुराते हुए उनसे कहा—धन्यवाद है, भाभी!

मुझे प्यास के कारण ही नींद तोड़नी पड़ी। मैं सपना देख रहा था—छोटी भाभी शर्बत लिए मेरे उठने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

"क्या खूब ! पर, यह आपकी उदारता है। मैंने तो बड़ा कष्ट दिया आपको। यह तो आप मुझे खुश करने को ही ऐसा कह रहे हैं।

"वाह ! इसमें क्या कष्ट, भाभी ! हाँ, कष्ट तो तुमने उठाया है। कब तक मेरे लिए कष्ट उठाती रहोगी, भाभी ? मुझसे क्या आशा करती हो ?"

मेरे शब्दों में करुणा थी जो स्वभावतः ही निकल पड़ी।

इसपर भाभी कुछ रुष्ट हुईं। मैंने देखा—उनका मुख-मंडल आरक्तिम हो उठा। शायद कुछ लज्जित भी हुईं। मैंने बात को बदलते हुए पूछा—छोटे भैया कहाँ हैं, भाभी ? क्यों उन्होंने बुला पठाया है मुझे ?

उनके मुखके भाव में तुरत ही परिवर्त्तन हो चला। वे कुछ सकपकाकर बोल उठीं—पहले मुझे क्षमा कर दें तो कहूँ।

"यह क्या कहती हो, भाभी ? क्षमा कैसी ? तुमने मेरा क्या बिगाड़ा है जो माफी माँग रही हो ?"

"हाँ, माफी चाहिए। मुझसे जान-बूझकर एक भूल बन पड़ी है। क्या क्षमा न करोगे, भाई मेरे।"

"ऐसा न कहो, भाभी ! चाहे लाख भूलें कर बैठो, पर मैं तुम्हारे उपकार का बदला किसी तरह भी नहीं चुका सकता। हाँ, मैं सच कहता हूँ।"

"चुप भी रहो, भला! मैं यह उपकार-सपकार नहीं सुनना चाहती। पहले मुझे क्षमा कर दो, तब मैं कुछ कहूँगी भी—बैठूँगी भी; नहीं तो लो मैं उठी।"

मैंने विनोद के स्वर में कहा—अच्छा, लो, यदि तुम इसी पर हठ कर बैठी हो तो मैं क्षमा किए देता हूँ। लो, अब खुशी हुई न!

"हाँ, वचन भी देना होगा?"

"अच्छा तो वह भी ले लो! और कुछ।"

"नहीं और कुछ नहीं। इतना ही चाहती हूँ।"

"अच्छा तो सुनिए! आपके छोटे भाई साहब तो घर से सदा फिरट ही रहते हैं। उन्हें क्या पता कि दुनियाँ की हवा किधर को बह रही है। वे क्यों घर-गिरस्ती लेकर मगज पची करने लगे! घर में इधर तुमुल नाद छिड़ा है। बड़े घर को तबाह करने पर तुले हुए हैं। बड़ी घर के एक कुत्ते को भी रहने देना नहीं चाहतीं। आप अभी संसार में पाँव धरने के योग्य हुए ही नहीं हैं। मैं आपको सुनाकर व्यर्थ दुखी क्यों करूँ। फिर भी आपको अब अबोध नहीं बनना चाहिए बात ही कुछ ऐसी हो चली है कि मुझे ही वह तार भेजना पड़ा। मैंने ही आपको बुलाने का अपराध किया है। जिसके लिए अभी-अभी आपसे क्षमा माँग ली है।

रोष से मेरा चेहरा तमतमा उठा। मैं बोल उठा—क्या बड़ी भाभी के उत्पात का अभी अंत नहीं हुआ है? क्या बड़े भैया उन्हीं को सह देते आ रहे हैं?

भाभी बोल उठीं—"उत्पात का अंत नहीं, इसे तो अभी प्रारंभ ही समझना चाहिए, सुशील बाबू!" भाभी दृढ़ता से बोलती गई—आपको अभी तक शायद कुछ पता न होगा—इधर उन्होंने जो अमानुषिक कार्य किया है। कैसे कोई इस घर में रह सकता है जब छोटी-छोटी बात लेकर वे लड़ने को दौड़ पड़ती हैं? अगर इतना ही होता तो कुछ खेद न था। यह तो हमलोग जानते ही हैं कि एक जगह घड़े रहने से ढलमलाते ही हैं, इसकी कौन पर्वाह करता है। पर, बात तो इससे कहीं अधिक आगे बढ़ जाती है और जान पर बन आती है। अभी अगले दिन की बात है—लल्लन और गिरू में झगड़ा हुआ था। यह तो बच्चों का काम ही ठहरा! फल यह हुआ कि उन्होंने गिरू को कोठे से ढकेल दिया। यह तो परमेश्वर की दया थी कि बच्चे का अंग-भंग होकर भी वह बच निकला, नहीं तो कौन आशा कर सकता था कि इतने ऊँचे से गिराए जाकर बाल-बाल बच निकले। इतना ही नहीं, जब बड़े ने उनकी कुछ खबर ली तो और ही गुल खिल उठा! उन्होंने चुपके से सबको बँधवाने के विचार से जहर खा लिया। उस दिन तो ऐसा ही बोध होता था कि अब सबके सब बाँधे जाएँगे, काला पानी की सजा भुगतेंगे—फाँसी के तख्ते पर घुल-घुलकर जान देंगे। पर, भगवान् बड़े भक्त-वत्सल हैं। उसी समय मँझले नें आकर उनकी खूब परिचर्य्या की। फल यह हुआ कि विष का प्रभाव तो जाता रहा, पर अभीतक मन ठिकाने नहीं है। फिर भी क्रोध का नशा सिर से नहीं उतरा है।

"उफ़!"—मैंने आश्चर्य, विस्मय और विषाद-भरे शब्दों में कहा—"ऐसी आफत! ऐसी आफत, भाभी! भीख माँगकर खाना अच्छा है, पर सामूहिक परिवार में, जहाँ ऐसी नर-पिशाच हो, घड़ी-भर के लिए रहना मानो नरक-भोग करना है! आखिर, यहाँ तक बढ़ गईं वे! अब घर का अंत ही समझो। जहाँ, उसके मालिक-मालकिन की यह हालत है वहाँ दूसरों की बात ही क्या? जानती हो, भाभी, क्रोध मृत्यु का दूसरा नाम है? अब खैर नहीं है? स्त्रियों पर कोई कैसे विश्वास करे, कैसे कोई उन्हें आदर की दृष्टि से देखे। जहाँ स्त्रियाँ गृह-देवियाँ कहलाती थीं वहीं राक्षसियों का विभत्सपूर्ण यह अट्टहास!"

"और उनकी काली करतूतों को सुनिएगा? सुनिएगा, सुशील बाबू?"

"क्या और भी है?"—मैंने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ, और भी है। घबराते क्यों हैं आप?"—भाभी कहने लगीं, "आपके भाई साहब तो साहब ही ठहरे! खैर उन्हें जाने दीजिए! मँझले अब कुछ-कुछ बोलने लगे हैं। बड़े ने करीब दो हजार बीघा जमीन अपने साले-ससुर के नाम से, केवल गृह देवी के बहकावे में पड़कर, खरीद की है। जमींदारी का काम दूसरा देखता ही कौन है! एक बात और। वह यह कि आपका हिस्सा ही उड़ा चाहता है! न जाने इसके लिए कैसे-कैसे षडयंत्र रचे गए हैं! मँझले इन बातों पर सख्त खफ़ा हैं! आपके छोटे भाई साहब को मैंने लिखा था—लिखा ही नहीं था, उन्हें नपुंसक तक सुना

दिया था। उसपर उन्होंने अब जवाब दिया है। वे लिखते हैं—अपना हक अपने से खो देना मनुष्यत्व नहीं कहलाता, वरन् यह तो पतित जीवन का एक नग्न रूप है, उन्होंने मँझले को इसके लिए तैयार किया है। पर, मेरा विचार है, पहले बड़े से ही इस संबंध में विचार लेना उचित है।

"विचार लेकर अब क्या होगा, भाभी! जब उनका मन साफ रहता तब एक नाचीज कुतिया के लिए ऐसा काम ही क्यों कर बैठते।"

"नहीं, यह कोई बात नहीं है! क्या एक बार की भूल फिर से सुधारी नहीं जा सकती? अब भी यदि अपने मान-प्रतिष्ठा बचाना चाहें तो बचा सकते हैं। इसलिए, बहुत बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए। समझे? केवल आपके आने की देर थी। मँझले आज गाँव के बड़े-बूढ़ों को बटोरकर पंचायत कराएँगे? अगर इतने पर भी कुछ तय न हुआ तो वे कुछ दूसरा प्रबंध करेंगे।

छोटी भाभी यद्यपि करुणा और सहानुभूति की मूर्त्ति थीं फिर भी वे दुष्टों को दंड देना अपना कर्त्तव्य समझती थीं। उनका कहना था—जो अन्याय को सहन कर लेता है वह अन्याय को प्रोत्साहन देता है। और यही उनका सिद्धांत था। वे अन्याय को फूटी आँखों से देख नहीं सकतीं।

छोटी भाभी ने सारी बातें कह सुनाईं और न जाने कबतक वहाँ हमलोगों के बीच बातें चलती रहतीं। इसी समय मँझले भैया ने बाहर से मुझे पुकारा। मैं अब क्षण-भर के लिए भी

ठहर नहीं सकता था। अंत में मैंने तैयार होते हुए भाभी से कहा—आखिर किशोरी का क्या हुआ, भाभी ! उसे देखता नहीं हूँ।

"उसकी क्या पूछते हैं ? मैंने मनुष्य पहचानने में धोखा खाया है। वह देखने में कितनी सूधी-सादी थी ! पर........।"

"पर, क्या, भाभी ?"

"आखिर उसकी चर्चा करके होगा ही क्या ? जाने दीजिए उस बात को ! मैं उसे कितना जी से चाहती थी ! पर उसने धोखा दिया। फिर भी विश्वास है.........।"

"विश्वास क्या भाभी ? वह क्या अपने को बचा सकती है ? हर्गिज नहीं। अच्छा जाने दो उसे ! देखा जायगा।"

मैं बाहर की ओर निकल पड़ा। पर, मस्तिष्क-जगत में थी किशोरी और उसमें घूम रहा था उसका अस्पष्ट वृत्तांत।

२३

धीरे-धीरे मँझले भैया और छोटी भाभी से घर का सारा रहस्य मुझपर प्रकट हो गया। मैं सारी बातें सुनकर बड़े भैया और विशेषतः बड़ी भाभी की करतूत पर संक्षुब्ध, खिन्न और विस्मित हुआ। मुझे कभी इसका संदेह न था कि बड़ी भाभी हृदय की यहाँ तक खोटी हो सकती हैं आश्चर्य तो इस बात पर हो रहा था कि बड़े भैया, बुद्धिमान होते हुए भी इतने नैतिक विचार से हीन कैसे होगए ? बड़ी भाभी ने घर में एक प्रकार से

आग फूँक दी थी। वह ऐसी आग थी जिसकी ज्वाला घर का सत्यानाश करके ही दम लेनेवाली थी। उन्होंने घर को मिट्टी में मिलाने के लिए कितनी-कितनी चालें चलीं; किस तरह उन्होंने मँझली और छोटी भाभी को अपमानित किया—तंग किया। किस तरह गिरीश को निधन करने का प्रयत्न किया; किस तरह विष खाकर मरने के लिए खुद तैयार हुईं, किस तरह घर की जायदादों को उड़ाकर अपने भाई का घर भरना चाहा—जमीन और जमींदारी किस तरह उसके नाम खरीद की गई और इतने से भी मन न भरा तो किस तरह उन्होंने मेरे पैतृक अधिकार को समूल नष्ट करना चाहा, वह भी मुझपर झूठा लांछन लगाकर, मेरी आत्मा पर कालिमा लगाकर, एक दासी के साथ मेरा अनुचित संबंध सिद्ध करने का आयोजन कर! यही कारण था कि किशोरी उन लांछनों को बर्दाश्त न कर घर से निकल पड़ी और अपनी उदर-ज्वाला शांत करने को वह दुष्ट किसुन के हाथ अपना सतीत्व बेचने पर तैयार हुई। आह! इतने भीषण षडयंत्र तो, न मालूम, किसी समर्थ व्यक्ति से भी नहीं हो सकते! बड़े भैया भी इस दोष से बरी नहीं किए जा सकते! पर, उनका दोष ही कैसे कहा जा सकता है जब कि वे एक धर्मभीरु प्राणी थे; पर हृदय के दुर्बल और नैतिक विचार से हीन। उन्हें तो सदैव इस बात का डर-सा बना रहता कि कहीं किसी बात पर गृहिणी घर से भाग न निकले! जैसा कि वे कभी-कभी धमकी दिया करती थीं। बड़े भया नैतिक विचार के पुष्ट प्राणी न थे कि वे उन्हें संयत रख

सकते ! परिणाम भयंकर हो चला था ? मँझले भैया किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे । मँझली भाभी गुस्सा पीकर शांत पड़ गई थीं। पर, छोटी भाभी घर को पूर्णतः संभालने के लिए अपने जी-जान से लगी हुई थीं ।

अब मेरे लिए रात-दिन का यही एक प्रश्न था कि यदि बड़े भैया और भाभी मुझे पैतृक-अधिकार से वंचित ही करना चाहते हैं तो क्यों न मै स्वयं इस बात की घोषणा कर दूँ कि मुझे इस धन की आवश्यकता नहीं । मैं अपना जीवन आप देख लूँगा । भगवान ने मुझमें भी शक्ति दी है, मैं भी अपने बाहुबल से धन उपार्जित कर सकता हूँ । पर, कुछ ही क्षण के बाद मन के भाव में परिवर्त्तन हो जाता और मैं सोचने लगता—कौन अपने स्वत्व को यों ही पैरों से ठुकरा देना चाहेगा ? नहीं, मुझसे ऐसा न होगा । मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करके अपने अधिकार को प्राप्त करूँगा ही ।

मेरे हृदय में द्वंद्व मचा था । मैं घात-प्रतिघातों के उलझन में इस तरह जकड़ा जा रहा था कि मेरे लिए परिणाम पर पहुँचना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो चला था । फिर भी मैंने यही निश्चय कर लिया कि यदि मेरी स्वत्व-हीनता से घर सर्वनाश होने से बच जाय तो यही मेरे लिए आदर्शमय होगा ।

मैं इसी विचार को लेकर एक दिन नदी के किनारे एकांत स्थल में दूब पर बैठ चिंता कर रहा था कि इसी समय मेरे मस्तिष्क में प्रकाश-सा दीख पड़ा । मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । संध्या

हो चुकी थी। मैं प्रसन्न होकर वहाँ से चल पड़ा। छोटी भाभी कोठे पर अकेली, गर्मी के कारण, टहल रही थीं। मैंने अलग से ही भाभी को ऊपर देख लिया था। मैं भी वहीं आ पहुँचा। उन्होंने स्वाभाविक मधुरता से मुस्किराते हुए पूछा—कहाँ से श्रीमान् आ रहे हैं? क्या कुछ नई बात है?

"नहीं, भाभी, सभी पुरानी-ही-पुरानी है। मैं अभी नदी के किनारे से टहलकर आ रहा हूँ।"

"हाँ, तो आपने आखिर क्या निश्चय किया? कल ही न पंचायत बैठने की बात है?"—भाभी ने जिज्ञासा-भरे शब्दों में पूछा।

"हाँ, कल ही पंचायत बठैगी, भाभी! बैठे, अच्छा ही है। पर, मैं घर को तबाह न होने दूँगा। मैं आखिर निश्चय ही क्या करूँगा, भाभी! मन ठिकाने रहे तब न!"

"तो यह धांधली कबतक मची रहेगी? आपके भाई साहब (छोटे भैया) को डाक्टरी से फुर्सत ही नहीं। उन्हें घर की फिक्र क्यों हो? आखिर, आप कुछ निश्चय पर पहुँचते ही नहीं हैं? रह गए मँझले! सुना है, वे बड़े पर पार्टिशन सूट दायर करने को हैं। क्या आप अपने स्वत्व के लिए... ।"

"स्वत्व क्या, भाभी"—मैं बीच ही में बोल उठा, "मैं तो इन्हीं भाइयों की कमाई अब तक खाता रहा हूँ। इन्होंने मेरा पालन-पोषण कर इतना बड़ा बनाया—पढ़ाने-लिखाने का कष्ट उठाया। बड़ी भाभी मेरी माँ के समान हैं, मैं उन्हें श्रद्धा की दृष्टि

से देखता हूँ। मैं किस दिन के लिए उनसे उलझूँ। लोग क्या कहेंगे ?"

छोटी भाभी का मुँह रोष से तमतमा उठा। वे इन बातों को माननेवाली न थीं। वे बोल उठीं—"आपको क्या अधिकार है कि अपने पैतृक धन को इस तरह बर्बाद करने दें। भले ही आपको यदि इस धन से वैराग्य है तो आप उसे किसी पुण्य कार्य में लगा सकते हैं। धन से ही तो सांसारिक कार्य साधे जाते हैं। बड़े-बड़े पुण्य कार्य भी तो इसीसे किए जाते हैं, फिर आप अभी से इतने उदासीन क्यों हो रहे हैं ? यह मैं कभी न होने दूगी। क्या मेरे विचार को आप कुचलने पर ही तुले हुए हैं ?"

"नहीं, भाभी, मैं तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। पर, मेरा हृदय इतना बलवान नहीं है कि मैं इसपर अपना आधिपत्य जमा सकूँ। मानता हूँ कि धन से बड़े-बड़े कार्य सधते हैं, अपने स्वत्व को खोना पुरुषत्व नहीं, फिर भी कोई अज्ञात शक्ति छिपकर मेरा हाथ पकड़ती है। मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ कि उस अज्ञात शक्ति की अवहेलना कर मै मैदान में कूद पड़ूँ। मुझे इसके लिए हार्दिक खेद है कि तुम्हारी······।"

"अभी आप नादान हैं, सुशील बाबू ! संसार की बातें आप नहीं समझते। अभी मैं आपकी अभिभाविका हूँ। इसलिए यदि मैं आपपर कुछ नियंत्रण करना चाहूँ तो यह मेरी अभद्रता न होगी और न कोई अनुचित ही कहेगा। मैं फिर आपसे निवेदन

करूँगी कि आप अपने अधिकार से हीन न हों। और यही आपके भाई साहब का भी परामर्श है।

"भाई साहब का परामर्श! कौन, छोटे भैया का? यह तो तुमने कभी नहीं कहा था।

"हाँ, मैं उनके विरुद्ध एक बात भी नहीं कहती। मैंने आपके लिए उनके पास, आपके यहाँ आने पर, पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने पत्र भेजा है। क्या आप उसे देखना चाहते हैं? अच्छा, दिखा ही देती हूँ।

भाभी नीचे आईं और वहाँ से पत्र ले जाकर मेरे हाथ में रख दिया। मैं प्रकाश में वहीं, पत्र पढ़ने लगा। पत्र में उन्होंने लिखा था—

"××× हाँ, सुशील के संबंध में जो तुमने मुझसे संमति चाही है, वह अवश्य विचारणीय है। सुशील पर मेरा स्वाभाविक स्नेह है, वह उसकी मधुर प्रकृति के कारण नहीं, वरन् आत्मीय बंधु समझकर और सबसे विशेष यह अनुमानकर कि वह हमारे घर को, निकट भविष्य में, स्वर्गोपम और सुख्याति-संपन्न कर सकेगा। मुझे आंतरिक खेद है कि बड़े भाई साहब ने उसपर जुर्म किया है और अभी तक उतारू हो रहे हैं। बड़ी भाभी ने मनुष्य तन क्यों पाया—पता नहीं। उन्हें तो सबसे निकृष्ट योनि में जन्म लेना चाहिए था। पर, यह संभव नहीं कि कोई सुशील को अपने अधिकार से च्युत कर सके! सुशील यदि भारी-से-भारी अपराध और अन्याय कर सकता तो मैं उसके लिए इतना गुरुतर

दंड उसे कभी नहीं दे सकता। आखिर, उसका अपराध ही क्या है? यदि उसने एक निराश्रिता को अपने घर में स्थान दिया, वह भी अपने मन से नहीं, सभी की सलाह लेकर दिया तो फिर यह कौन सा गुनाह है जिसके लिए वे लोग जुर्म करने पर तुल गए हैं। ××× तुम यत्न करो सुशील को समझाने का। मैं उसे यही सलाह दूँगा कि वह अपने अधिकार पर डँटा रहे। मैं यह हर्गिज नहीं चाहता कि वह तैश में आकर अपने हक़ को खो बैठे। मुझे उस दिन बड़ा रंज होगा जब मैं सुशील को अपने विचार के विरुद्ध चलते पाऊँगा। मैं मँझले भैया को इस आशय का पत्र दे रहा हूँ। वे पार्टिशान सूट दायर करनेवाले हैं उसमें सुशील का ही हस्ताक्षर चाहिए। तुम सुशील से सारी बातें कह दोगी और इस पत्र को दिखा दोगी!

× × × . ×

तुम्हारा—"

मैं पत्र को एक ही साँस में पढ़ गया। पर, मुझे इससे बड़ी निराशा हुई। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि छोटे भैया ने जो कुछ लिखा है वह मेरे स्नेह से प्रेरित होकर। मैं अपनी स्वत्व-रक्षा के लिए घर में बवंडर पैदा नहीं कर सकता। यदि बड़े भैया और बड़ी भाभी को इसी बात से परितोष मिलने को है तो इस संपत्ति के चलते मैं उन्हें क्यों दुखित करूँ! वे मेरे पूज्य हैं, आदरणीय हैं! क्या उनके लिए मेरा कुछ कर्त्तव्य नहीं है? नहीं, मुझसे यह सब कुछ न होगा! मैं उनके विरुद्ध कभी खड़ा नहीं हो सकता!

छोटी भाभी बड़ी देर तक मेरी ओर देखती रहीं। वे मानो मेरी मनोव्यथा को पढ़ रही थीं। अंत में उनसे न रहा गया। वे बोली उठीं—आखिर क्या निश्चय किया, सुशील बाबू!

"हाँ, वैसा ही होगा!"—मैं अन्यमनस्क होकर बोल उठा।

"सच?"

"हाँ, सच भाभी!"

× × × ×

दूसरे दिन नियमित रूप से पंचायत बैठी। मँझले भैया ने अपना प्रस्ताव कह सुनाया। बड़े भैया ने अपनी सफाई दी। अंत में मेरी बारी आई। मैं वहाँ बुलाया गया। मँझले भैया ने मेरे अधिकारच्युत की बात पंचों में पेश कर दी थी जिसके लिए पंचों को मुझसे भी अपना विचार प्राप्त करना था। बड़े भैया के विरुद्ध यहाँ कुछ कहूँ तो उनकी आत्मा को बड़ा दुख होगा। वे मुझे जनम-भर कोसते रहेंगे। इतना ही नहीं, यदि इन्हें स्वभावतः मुझे इससे वंचित ही करना है तो अपने जी का कर ही लें। आखिर, जो मैं सोचता था—वही कहना ही पड़ा। मैंने पंचों से पूछे जाने पर साफ साफ़ कह दिया—जब बड़े भाई कहते हैं कि मेरा हक़ नहीं है, तो मैं भी कहे देता हूँ—हाँ, मेरा इस धन पर कुछ भी हक़ नहीं है।

जो हो, इतना-कुछ होने पर भी पंचायत से कुछ भी फैसला न हुआ। बड़े भैया मँझले के प्रस्ताव से सहमत न हो सके। पंचायत

की बात भी न रही। अंत में मँझले भैया को कोर्ट की शरण लेने के लिए बाध्य होना ही पड़ा। पंचायत उठ गई।

छोटी भाभी ने सब कुछ सुना, पर, मेरे विचार पर वे संक्षुब्ध न हुईं वरन् उन्होंने हँसते हुए केवल इतना कहकर ही टाल दिया सुशील बाबू यदि कोई किसी दिन आपसे मेरे विषय में पूछे कि यह तुम्हारी भाभी हैं तो क्या आप कह दीजिएगा कि नहीं, यह मेरी भाभी कैसी ? ये तो मेरे भैया की कोई लगती ही नहीं हैं ? वाह, भई वाह ! इतने भोले जीव हैं आप ! कहीं आपकी धोती खोलकर कोई कह बैठे कि यह मेरी धोती है तो कह दीजिएगा—हाँ, लेते जाइए। यह आपकी ही है। वाह ! शुद्ध बुद्धजी महाराज !

मैं खिन्न तो हुआ; पर, हँसी आए बिना न रही।

मैंने यद्यपि पंचायत में अपने अधिकार की बात ही उड़ा दी थी तथापि मेरे मँझले भैया इस विचार से सहमत न हो सके। अवश्य ही बड़े भैया को इससे मन-ही-मन, कम प्रसन्नता न हुई होगी ! फिर भी मँझले भैया ने पार्टिशन सूट, आखिर दायर कर ही दिया वे ही मेरे अभिभावक बने। मैं नाबालिग सिद्ध कर दिया गया। मैं उनके विचार में परिवर्त्तन न ला सका।

२४

किशोरी पर जितना मुझे प्रचंड रोष हुआ था उतना ही यह जानकर कि बड़ी भौजी के दुर्व्यवहार से तंग आकर वह

ऐसा करने को बाध्य की गई—उसके प्रति मेरा सारा रोष जाता रहा और हृदय में सहानुभूति की धारा प्रवाहित हो गई। मैंने छोटी भाभी से साफ-साफ यह जानना चाहा कि किशोरी से ऐसी कौन-सी बात हुई जो रोष का कारण हो सकती है। मैंने उनसे कई बार पूछा, पर उन्होंने मुझपर यह बात प्रकट न होने दी। संभवतः, वे सोचती होंगी कि मैं बड़ी भाभी से रोष के मारे उलझ पड़ूँगा और जिसका परिणाम बड़ा भयावह होगा। पर,जब मैंने देखा कि छोटी भाभी ने मुझसे—विशेषतः किशोरी से अन्याय किया है, तब मेरे मन के भावों में परिवर्त्तन हो चला। जिनपर मेरी असीम श्रद्धा थी, अटूट स्नेह था, जिन्होंने मेरे जीवन की कौन कहे, गृह-कलह को शांत करने और मुझे पढ़ाने के लिए कितनी न्याय-बुद्धि और चातुरी से काम लिया था, उन्हीं के प्रति थोड़ी-सी बात के लिए इतना मन-मोटाव हो गया कि मुझे घर पर रहना कष्टकर और घृणास्पद जान पड़ा। मैं मन-ही-मन सोचा करता—किशोरी ठुकराने की चीज नहीं है। भले ही बड़ी भाभी ने लांछन लगाकर उसे मेरे घर से निकाल डाला और छोटी भाभी ने उसे आँखें पसारकर निकलते देखा; पर अब उसे मेरे हृदय से कोई निकाल नहीं सकता। देखूँगा, कौन इस पथ में रोड़े अटकाता है? देखूँगा—कौन मेरे घर से मुझे निकालने को कटिबद्ध होता है। किशोरी ने अपनी माँ के सामने आत्म-समर्पण किया है और मैं उसी दिन उसे अपने हृदय में स्थान दे चुका हूँ और वह इसीलिए कि अपनी क्षुधा-शांत करने को वह दुष्टों के हाथ का खिलौना

बनने को मजबूर की जाय ! हर्गिज नहीं हो सकता। मैं जीते जी उसे अपमानित नहीं करा सकता।

मेरा मन सोचते-सोचते अशांत हो गया था। मैं उसी क्षण कमरे से निकल किशोरी से मिलने को चल पड़ा—बिना कुछ आगा-पीछा सोचे, बिना कुछ आशंका वा भय का ख्याल किए ही। हाँ, कमरे से निकलते समय छोटी भाभी से रसोई-घर के निकट भेंट हुई थी। उन्होंने मुझसे, बाहर जाते देखकर, पूछा—कहाँ जा रहे हैं ? रसोई तैयार है, भोजन करते जाइए। प्रत्युत्तर में मैंने रुखाई से कहा—भूख नहीं है—मैं नहीं खाऊँगा। और मैं चल पड़ा।

रास्ते में मुझे संदेह हुआ कि भाभी मुझे ताड़ जायँगी कि मैं क्यों घर से बाहर निकल रहा हूँ। अवश्य ही इस विचार ने मेरे मस्तिष्क में उथल-पुथल उत्पन्न कर दिया। फिर भी मैं अपने विचार पर पूर्णतः स्थिर रहा। अंत में किसुन के घर जा पहुँचा।

किसुन से बैठक में ही भेंट हुई, वह बड़े आवभगत से मुझसे मिला। सामान्य कुशल-समाचार पूछने के बाद वह बोल उठा—देखता हूँ, सुशील, तुम्हारा चेहरा उदास है। क्यों उदास है, भाई!

मैंने ओठों पर बनावटी हँसी लाकर कहा—कहाँ, नहीं तो ? ऐसी कोई बात तो नहीं है, किसुन !

"न हो; पर चेहरे से तो साफ जाहिर हो रहा है, चाहे मुँह से तुम कुछ न कहो क्यों न ! कोई गहरा घाव जरूर है, नहीं तो

कभी मुमकिन नहीं कि तुम्हारे हँसते हुए चेहरे पर इस तरह की उदासीनता दीख पड़े।"

"तुम्हारा अनुमान केवल कल्पना-मात्र है, किसुन! कुछ सच नहीं।"

इसी समय संयोग से किशोरी भीतर से आकर खड़ी हो गई और बोली—भोजन कर लीजिए। रसोई ठंढी हो रही है।

मैंने आँखें उठाकर किशोरी की ओर देखा—देखा मानो उसे काठ मार गया हो। उसके नीरव नेत्रों में करुणा मानो ढलमल कर रही है और चेहरा विषण्ण है।

किसुन ने उससे छूटते हुए कहा—चलो किशोरी—आ रहे हैं।

वह चली गई।

किसुन जरा मुस्किराते हुए मुझसे कहने लगा—तुम इसे देखकर असमंजस में पड़े होगे, सुशील, और संभव है, तुम्हारी नजर में मैं ही दोषी होऊँ। मैं तुम्हे विश्वास ही कैसे दिला सकता हूँ? फिर भी इतना जरूर और जोर देकर कहूँगा—न तो इसका दोषी मैं हूँ और न वह है। यदि कोई हो सकता है तो वह ....।

वह बात को बीच ही में अधूरी रख ठहाका मारकर हँस पड़ा। उस हँसी में व्यंग था, भर्त्सना थी, रहस्य था और विद्रुप की स्पष्ट छाया।

"हाँ, कहे जाओ, किसुन भाई, रुक क्यों गए?"—मैंने कहा किंतु दृढ़ता और कुछ निश्चय के साथ।

"नहीं, सुशील, अवश्य मैं भी थोड़े अंश में दोषी हूँ। क्योंकि मैंने इसे आश्रय दे रखा है।"

"तुम धन्यवाद के पात्र हो, भाई। यदि तुमने इसे आश्रय न दिया होता तो परिणाम बुरा ही होता। तुमने अवश्य उसका उद्धार किया है; पर वास्तव में मैं ही सभी अनर्थ का मूल हूँ। मेरे चलते किशोरी अपमानित हुई है—इसे मैं स्वीकार करता हूँ।"

"हाँ, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, सुशील! अपमान किसी दूसरे के हाथ नहीं हुआ है। इसका सारा दोष तुम्हारे सिर है। तुमने उसके साथ अभद्रता का व्यवहार किया है। तुम्हें यह सुनकर खेद तो जरूर होगा—कहना नहीं चाहिए था मुझे? पर लाचारी थी मेरी—मैंने सच्ची बातें कह दीं। विवश हूँ, क्षमा करो, भई।"

"यह क्षमा माँगना नहीं—चिकुँटी काटना है। किसुन! इससे अच्छा तो यह होता कि तुमने मुझे गोली मार दी होती, मैं उसे हँसते-हँसते सह लेता किंतु तुम्हारा यह विष उगलना मेरे लिए असह्य है। मैंने किशोरी के साथ कौन सा अभद्र व्यवहार किया है? इसका सबूत तुम्हारे पास है क्या? दे सकते हो तुम?"

"मुझपर नाहक खफा क्यों होते हो, भले आदमी! गाँव का बच्चा-बच्चा जानता है कि तुमने किशोरी को क्यों अपने घर में रख छोड़ा था। अजी, कितना डूबकर पानी पियो, पर दुनिया जान ही जाती है।"

रोष से मेरे ओठ फड़क उठे, आँखों से खून उबल पड़ा।

यही जी करता था कि किसुन पर गोली चला दूँ, पर मैं अपने उद्देश्य पर सावधान था! इसलिए मैं सावधान होकर बोल उठा— जितना लांछन लगाना हो, लगा लो, किसुन! किंतु सच का सच और झूठ का झूठ ही सदा से होता आया है और होता रहेगा। मैं अपनी तरफ से और कुछ नहीं कहना चाहता। इसका निर्णय या तो किशोरी ही कर सकती है या भगवान ही।

"हाँ, सच कहते हो। भगवान तो एक कल्पना का विषय है; पर, किशोरी तो यहाँ खुद मौजूद है। अजी छोड़ो इन बातों को। जो बात थी वह तो मुझे मालूम ही हो गई है। अब उससे होना जाना ही क्या है?"

"होने-जाने की बात नहीं। यह मुझपर जुर्म है—सरासर जुर्म है। ऐसा कहने का साहस तुमसे हो सका—यही क्या कम आश्चर्य की बात है?"

वह ठहाका मारकर हँस पड़ा और बोला—अजी, साहब, रहने दो अपनी साधुता! साधुता का पता तो खुद किशोरी जानती है। हमलोग तो केवल सुनने भर के भागी हैं।

"हाँ क्या किशोरी ने खुद स्वीकार किया है?"

"हाँ-हाँ, खुद और वह कहेगी नहीं? जिसपर गुजरती है, वह कहता ही है। इसमें आश्चर्य की बात कौन सी है?"—वह फिर ठहाका मारकर हँस पड़ा।

अब मुझसे असह्य हो रहा था कि कान खोलकर अपने अपमान की बात सुनता रहूँ। मेरे मन में तरह-तरह के विचार

उत्पन्न हो रहे थे। कभी तो मन में होता कि सभी दुष्कर्मों की जड़ खुद किशोरी है; कभी मन में होता—इसी पाजी ने उसे मेरी ओर से उभाड़ रखा है। कभी सोचने लगता—जब मेरा घर ही मेरा दुश्मन हो रहा है तो दूसरे की बात ही क्या ? कभी यह विचार होता—छोटी भाभी यदि चाहतीं तो किशोरी को अपने घर रख छोड़तीं और आज मुझे यह सब न सुनना पड़ता। कभी मुझे अपने आप पर भी बड़ा रंज होता कि क्यों उस बदमाश को अपने घर में स्थान दिया। उफ् ! कौन-सा नशा था उस दिन जब मैं पागल होकर घर से बाहर निकला था। आह, वह दिन कितना बुरा था जब मैंने उसके साथ चलकर उसकी माँ की देख-रेख की थी। अवश्य ही अपने पाप का फल लोगों को भुगतना ही पड़ता है चाहे वह मानसिक ही हो क्यों न !—इसी तरह सोचते सोचते मेरा सिर चकराने लगा। शरीर पसीने-पसीने हो गया, आँखों के आगे कुहासा-सा भासने लगा। मैं प्रकृति-शून्य-सा हो रहा था। इसी समय किसुन ने मुझे संबोधित कर कहा—चिंता करने की कौन सी बात है ? सुशील, किसी दिन इसी के चलते हुए मुझे भी लांछित होना पड़ा था; पर हम जब सब तरह से सच्चे हैं तो दूसरों के लांछन का फल ही क्या होगा ? ठीक अभी तुम्हारी भी वही हालत है। मुझे विश्वास है कि तुम निष्पाप हो—सारे लांछन फिजूल हैं। ऐसी हालत में तुम्हें दुखी न होना चाहिए। उसने इतना कहकर मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा—चलो, सुशील, कुछ भोजन कर लें।

और वह उठ खड़ा हुआ।

मैंने उपेक्षा-भाव से कहा—नहीं, किसुन, मैं भोजन करके चला था, तुम जाओ, भोजन कर लो।

"नहीं, यह नहीं होने का।"—किसुन ने बड़ी अजीजी के साथ कहा—"बहुत दिनों पर तुम्हारे दर्शन प्राप्त हुए हैं, भाई मेरे, मैं सीधे तुम्हें छोड़ नहीं सकता। चलो भीतर, और जितना ही रुचे, खालो। नहीं तो मैं समझूँगा—तुम्हें मेरी बातों का रंज है।

मैं बड़ी देर तक बहाना करता रहा, पर उसने न माना। यह भोजन करना नहीं था—जले पर नमक छिड़कना था। मैं मन-ही-मन किशोरी को फूटी आँखों देखना न चाहता था, पर विवशता थी मेरी। मैं किसुन की अवज्ञा करने का साहस न कर सका। मैं उसके साथ भीतर आया। उसने आते ही किशोरी से कहा—देखो किशोरी, सुशील आया हुआ है। इसके लिए भी रसोई परोस कर लेती आ।

दो आसन लगे। दो थालियाँ आईं। आमने-सामने हमलोग खाने बैठे किशोरी ने केवल थालियाँ रख दीं और आड़ में खड़ी हो रही। न तो मुझे ही साहस हो सका कि उसकी ओर आँखें उठाकर देखूँ। यद्यपि किशोरी को कई बार परोसने के लिए सामने आना पड़ा फिर भी मेरी इच्छा न हुई कि उसकी ओर एक बार घृणा की दृष्टि से भी देखूँ—मिलना तो दूर की रही।

भोजन की यद्यपि मुझे जरा भी इच्छा न थी—शायद ऐसे अवसर पर इच्छा रहते हुए भी कोई भोजन कर नहीं सकता था,

फिर भी मेरा स्वार्थ था और वह यह कि जरा एक बार किशोरी के आंतरिक भावों का पता तो लग जाय, आखिर वह इतनी जल्द कृतघ्न हो सकी कैसे! इसलिए मैं अपमानित होकर भी भीतर जाने को राजी हो गया। किसुन ने यह अवसर मुझे क्यों दिया था—यह तो वही जाने, पर उसका एक मात्र उद्देश्य था—मैत्री भाव को बनाए रखना। क्योंकि भोजन का समय था वह, ऐसी हालत में वह अकेला उठकर कैसे आता भोजन करने को! जो हो, भोजन कर चुकने पर किशोरी ने अंत में पान और लाइची का डिब्बा मेरे सामने कर दिया। इच्छा तो हुई कि उससे लेना साफ इन्कार कर दूँ—या कह दूँ कि आजकल पान खाता ही नहीं। पर सामने आने पर उसकी ओर मेरी दृष्टि स्वभावतः ही चली गई, मैंने उसके भावावेश को देख अस्वीकार करना अन्याय समझा। मैं पान के बीड़े लेकर बाहर की ओर चल पड़ा, किसुन भी मेरे साथ ही आया। रात कुछ अधिक हो चली थी। उधर ध्यान था घर पर भाभी मेरे आसरे में बैठी होंगी। मैं चल पड़ा, किसुन भी मेरे साथ कुछ दूर तक आया और लौटते समय उसने मुझसे कहा—किशोरी तुम्हारी है, सुशील, और तुम्हारे प्रति उसका आंतरिक प्रेम है। वह तुमसे चिढ़ती है सही, पर उसके दिल में तुम्हारे लिए एक खास दर्द है। क्या करे वह बेचारी! मैंने उसे आश्रय दिया है। इससे यह न समझना कि वह मुझसे प्रेम करती है, मुझपर मरती है; नहीं, उसका हृदय बड़ा विशाल है। वह गरीब है, दुखिया है सही; पर आत्म-संयम और दृढ़ विचार

की वह अवश्य है। मैं उसकी ताईद करता हूँ। तुम्हें, उसके प्रति अगर कुछ मलाल हो तो उसे निकाल देना चाहिए।

मैं उत्तरस्वरूप स्पष्ट रूप से कुछ न कह सका। हाँ, मैंने उससे केवल इतना ही कहा—यह-सब घर-फूट के कारण मुझे सहना पड़ता है, भाई? पर, वास्तव में तुमने उसे स्थान देकर मेरा बड़ा उपकार किया है—इसके लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।

वह पूरी बात सुनने के पहले ही घर की ओर चल पड़ा और मैं भी अपने घर की ओर।

घर आने पर मालूम हुआ—छोटी भाभी बड़ी देर से मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। आने के साथ ही वे बोल उठीं—बड़ी देर लगाई, सुशील बाबू! रसोई ठंढी हो रही है। उत्तर में मैंने उपेक्षा के स्वर में कहा—ठंढी ही होने दो। मुझे आवश्यकता नहीं है।

मैं अपने कमरे में आ, भीतर से दर्वाजा बंदकर, पड़ रहा। पड़ रहा सही, पर मन के उद्वेग को शांत करने में सफल न हो सका। यह कदाचित् पहला ही अवसर था कि मैंने छोटी भाभी की बात की अवहेलना की हो? फिर कर ही क्या सकता था? जब कि चारो ओर से मेरे मस्तिष्क में लांछन, अभियोग, उपेक्षा, अपमान की भयंकर ज्वाला हू हू चीत्कार कर रही हो। बिछावन पर लेटने के साथ मेरे दिल में आया—क्या ही अच्छा हो, मैं छोटी भाभी से कह दूँ, लाओ, भाभी, कुछ खा ही लूँ! ऐसा मैंने शायद इसलिए सोचा कि ऐसा करने से उनके दिल से मेरे प्रति आई बातों का प्रभाव कुछ घट जाय और इसलिए कि वे आप भी भोजन

कर लें। पर, मैं ऐसा न कर सका। यह विचार उठकर शून्य आकाश में विलीन हो गया। यह मेरा पहला ही नैतिक-पतन था। मैं स्वयं कितना कर्म्मठ था और कितना दृढ़-प्रतिज्ञ—नहीं कह सकता। पर, मैं इसपर भी यही विचार कर रहा था—जो मेरा अपमान करेगा उसे भी मुझसे अपमानित होना ही पड़ेगा।

आह! प्रतिशोध की आग कितनी भयानक होती है!

२५

मेरे मानसिक उद्वेग का परिणाम दिन-प्रति भयंकर ही होता गया। मैं जितना ही इस बात को दिल से मिटाना चाहता था, उतना ही उसका वेग घटने की अपेक्षा बढ़ता ही जाता। अंत में मैं भी इसी बहाव में बह चला। घर के सभी आदमी मुझे अपना जानी दुश्मन-से दीख पड़ने लगे। छोटी-भाभी के व्यंग में जैसा पहले विनोद मिला करता, अब वह उतना ही विद्रुप-सा डंक मारने लगा। मैं अब उनकी हँसी का जवाब हँसी में न देकर कर्कश कर्णकटु शब्दों में देने लगा। पर, भाभी खेद प्रकट करने की अपेक्षा मुझपर, मेरी मंद बुद्धि पर समवेदना प्रकट करने लगीं। वे अपनी ओर से मेरे मन को साफ करने के लिए अनेक उपाय करतीं, पर मेरे दुर्व्यवहार के सामने उन्हें नत-मस्तक होना पड़ता। वे अपने दुर्भाग्य को कोसतीं। कभी-कभी तो मेरे वचन-वाणों से विरुद्ध होकर रो तक देतीं किंतु मेरे कठोर हृदय में दया

के बदले कठोरता ही उत्पन्न होती। मैं उस करुण-क्रंदन को केवल एक उपहास-सा समझता। उनकी सारी हरकत मेरे विरुद्ध ही पड़तीं। मै घृणा से उनकी ओर ताकता तक नहीं! पर, हाय! मानव जाति का अभिमान! कितनी कठोर उपेक्षा उनके प्रति दिखलाई मैंने! कुछ ठिकाना है! किंतु इतने पर भी उनके विशाल-हृदय में मेरे प्रति वही सद्भाव था, वही दया थी, वही समवेदना थी जो उनके हृदय में स्वभावतः मेरे प्रति उत्पन्न हुई थी! मैंने उनकी कितनी अवज्ञाएँ कीं; पर, उनका हृदय दर्पण-सा स्वच्छ, निर्मल और निष्कलुष था। मैं अपने को सँभाल न सका! सँभालता ही कैसे? पर भाभी ने 'अपने आपको खूब हो सभाला और सँभालती ही रहीं। मैं उनकी अविचल स्नेह-श्रद्धा को बदल न सका।

इन दिनों मैं उदास-सा रहता। मैं मन को बहलाने की कितनी ही चेष्टाएँ करता पर, सदा असफलता ही हाथ लगती। मन की शांति तो मुझसे कोसों दूर चली गई थी। रह-रहकर हृदय में हूक-सी पैदा होती और मैं उसे थामकर रह जाता। मन में तड़प थी और वह इसलिए कि किशोरी को पा सकूँ, उससे क्षमा की प्रार्थना करूँ और उसे फिर अपने हृदय की रानी बनाऊँ। पर, यह सोचने में जितना आसान था, कार्य रूप में उतना आसान नहीं। मैं कई बार उधर निकल जाता इस अभिप्राय से कि किसी तरह उसे एकबार पा सकूँ। यह चेष्टा मेरी निष्फल न जा सकी। संयोग अच्छा था। दिल ने न माना और मैं किसुन के घर जा पहुँचा। बाहर से आवाज दी, पर भीतर से किसी

की आवाज न सुनाई दी। मैं दरवाजे से सीधे लौटकर चलना ही चाहता था कि भीतर से किसी की पद-ध्वनि सुन-पड़ी। मैंने उलटकर देखा—देखा सामने मूर्त्तिवत् किशोरी खड़ी है ठीक मूर्त्ति-सी अचल-अटल! मैंने उसकी ओर आँखें उठाकर देखा और उसने मेरी ओर। आँखों-आँखों में बातें हो गई, न मेरे मुँह से कुछ निकल सका और न उसके मुँह से। कुछ काल तक हमलोगों की यही दशा रही। अंत में म बोल उठा—क्यों? कहाँ गया है, किसुन!

"नहीं मालूम; कहीं गये होंगे?"

कहाँ गया—अच्छा मैं चला।

'क्यों'? कोई आपत्ति न हो तो आइए, कुछ पान लायची तो खा लीजिए।'

'मुझे आपत्ति क्यों, किशोरी? हाँ, तुम्हें कुछ कष्ट होगा!"

उसने मुस्कराते हुए कहा—'कष्ट! हाँ, कष्ट ही चाहिए मुझे! आइए, और कुछ कष्ट ही दीजिए!"

वह भीतर की ओर चल पड़ी, मैं भी उसके साथ ही चला। उसने मेरे बैठने को चौकी पर दरी बिछा दी। मैं उसी पर बैठ गया और वह मेरे सामने पानसाजी लेकर पान बनाने को बैठ गई।

वह पान बनाती, साथ ही मुझसे बातें भी करती जाती। उसने मुझसे आखिर कही डाला—मैं उस दिन आपसे न बोल सकी थी, सुशील बाबू, शायद इससे आपको खेद होगा। मुझे भी इसके लिए दुख है। पर, क्या करती, लाज के मारे मैं बोलने

का साहस न कर सकी। मुझसे बे-अदबी हुई है, सुशील बाबू, क्या क्षमा न करेंगे ?

"इसमें क्षमा की बात क्या ? मैं भी मनुष्य हूँ। यद्यपि मैं अपने व्यवहार पर आप कुंठित हूँ, फिर भी हृदय वही है जो पहले था। मैं जान गया था कि, तुम्हारे हृदय में अवश्य ऐसी वेदना है जिससे तुम मर्माहत हो रही हो। यदि मैं ही उस दशा में होता तो जैसे तुमसे बन पड़ा, वैसा ही, संभव है, मुझसे भी होता। इसमें फिर अपराध क्या ? अपराध तो उस दशा में समझा जाता है जहाँ इच्छा वा अनिच्छावश किसी का अनिष्ट-साधन हो जाता है। फिर तुम तो इस दोष से रहित हो, किशोरी !"

यह तो आपकी भलमनसाहत है, सुशील बाबू ! पर मैं जानती हूँ, मेरे चलते आप बदनाम हैं। बदनामी होकर ही रहती तो कोई बात नहीं। कारण है, महापुरुष बड़प्पन और छुटपन पर, मान और अपमान पर, एक-सा भाव रखते हैं, फिर तो आप सज्जन हैं, विद्वान हैं। सबसे बढ़कर तो यह है कि आप मेरे लिए रात-दिन चिंता में पड़े रहते हैं। उस दिन भी देखा, मुख आपका उतरा हुआ था, आज भी देखती हूँ, मुख जैसे कुम्हला गया है। सच पूछिए तो कोई दूर से आपको पहचान भी न सकेगा। इसका कारण मैं जानती हूँ। मेरे यहाँ चली आने के कारण आप दुःखी हैं। वास्तव में मुझे जो न करना चाहिए था, वही मुझे बरबश करना पड़ा। उफ् मेरे चलते आपकी ऐसी दुर्गति..... !

वह सिसक-सिसककर रो पड़ी। वास्तव में उसका रोना

कठोर-से-कठोर दिल को मसोस सकता था! उफ़! उस रुदन में कितनी वेदना थी? कितनी व्यथा थी, आह, कितनी करुणा! मैं अपने को सँभाल न सका। अस्फुट शब्दों में मेरे मुँह से आप-ही-आप निकल पड़ा—तुम निष्कलंक हो, किशोरी। तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में कभी किसी तरह का दूषित भाव टिक ही नहीं सकता! मुझे हार्दिक दुख है, मेरे परिवार में तुम्हें दुख ही दुख मिला, किशोरी। गालियाँ खाईं, अपमानित हुई दुत्कारी गई और न जाने क्या-क्या तुम पर बीता! आह, मेरे कारण······।

उसने अपने को सँभालते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—मुझे उन बातों की तनिक पर्वाह नहीं है, सुशील बाबू! मेरे दिल को भगवान ने बड़ा कठोर बनाया है। इसीसे मैं उन बातों से घबराती नहीं। पर, यह जानकर दुख जरूर है कि मेरे भ्रष्ट किए जाने का कारण आप बतलाए जाते हैं। इससे आपकी मर्यादा पर, वंशप्रतिष्ठा पर, आपके व्यक्तित्व पर यह निष्फल कलंक-कालिमा असल में महान् दुःख का कारण हो सकती है। फिर लोकापवाद को मिटाना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है।

"जानती हो, किशोरी! मैं लोकापवाद की उतनी पर्वाह नहीं करता। लोगों में बदनामी फैल रही है, यह उतना दुसह नहीं है जितना यह कि मेरे परिवार के चलते तुम्हे अपनी मर्यादा की सीमा का उल्लंघन करना पड़ा। और इसका पाप मेरे माथे है। क्योंकि मैं तो पहले से ही जानता था कि मेरे घर पर बड़ी भाभी का स्वभाव बड़ा ही उग्र है। मुझे छोटी भाभी पर विश्वास था

कि वह तुम्हें अच्छी तरह रखेंगी और जरूरत पड़ेगी तो तुम्हें परिवार के लोगों की कठोरता से उबारेंगी; पर, उन्होंने तुम्हें बड़ी भाभी की कठोरता से न बचाया और आँखें पसारकर वे तुम्हे अपमानित कर निकलते देख सकीं। वे यदि चाहतीं तो किसी का मजाल न था कि कोई तुम्हे बाहर कर देता, पर ऐसा न हो सका। इसका मतलब यही है कि तुम्हें निकाल बाहर करने में छिपे-छिपे उनका भी हाथ था।"

"शिव-शिव! यह आप क्या कहते हैं, सुशील बाबू! छोटी बहू साक्षात् देवी हैं। उनपर किसी तरह का दोष मढ़ना उनके साथ अन्याय करना है। आप उनके प्रति ऐसा अन्याय न करें। उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं किया, क्या नहीं सहा? मैं अभागिन हूँ सही, पर मैं कभी कृतघ्न नहीं बन सकती। भगवान के घर में क्या जवाब दूँगी। उस जनम का फल तो यहाँ भुगत रही हूँ, सुशील बाबू, फिर इस जनम में फिर वैसा ही करूँगी तो आगे क्या होगा—भगवान ही जानें। आप उनपर कोई दोष नहीं मढ़ सकते! भगवान् के नाम पर ऐसा अन्याय आप न करें।"

मैंने उसकी सारी बातें सुनीं किंतु मुझपर कोई प्रभाव न पड़ सका। मैंने उसकी बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए उससे कहा—छोटी भाभी को भले ही तुम दूध की धोई समझो—समझ सकती हो, पर मैं तो यही कहूँगा कि उन्होंने केवल साँस भरने के सिवा और कोई दूसरा काम ही नहीं किया। यदि उन्हें तुम्हारे प्रति सच्ची चाह होती तो निसंदेह वे तुम्हें कभी अलग न कर

सकतीं। जो हो, मैं उनपर ही दोषारोपण क्यों करूँ! जब मुझे बदनामी ही उठानी थी तब दूसरे को अब कुछ कहना ही व्यर्थ है।

इसबार वह झुंझला पड़ी। आँखों में खून उतर आया और रोष में बोल उठी—लगे आप फिर से वही कपास ओटने! आप दिल के इतने छोटे तो न थे। बेकार क्यों उनकी धूल उड़ाते हैं? पढ़े-लिखे हैं आप! विचारकर बोलना चाहिए।

वह थोड़ी देर तक शांत रही फिर, नम्र स्वर में बोल उठी—मेरे लिए आप किसी तरह की चिंता न करें। मैं यहाँ भली चंगी हूँ—कोई कष्ट नहीं है। आपके प्रति मेरी वही श्रद्धा है जो पहले थी।

मैं उसकी ओर देख रहा था—बोलते-बोलते उसकी मुखश्री कैसी खिल गई! कितना सौम्य दीख पडा मुख-मंडल उसका! मै बोल उठा—चाहे जो हो, मैं तुम्हारी बातें मान लेता हूँ! तुम उदार हो, अपने दुश्मन की बड़ाई तुम्हें ही शोभती है। खैर, लेकिन एक बात मैं कहूँ?····· हाँ, मैं तुम्हें यहाँ हर्गिज न रहने दूगा। जिसने तुम्हारे आचरण पर·····।

वह बीच ही में बात काटकर बोल उठी—छिः, यह क्या कहते हैं आप? जो स्त्री अपने आचरण को बनाए रख सकती है, वह कभी उसे बिगाड़ने को तैयार न होगी और न कोई उसे बिगाड़ने की हिम्मत ही कर सकेगा। आप भ्रम में हैं, सुशील बाबू! आपको नारि-हृदय का पता नहीं है, नहीं तो आप ऐसी बात कभी न कहते। फिर मैं किसुन बाबू के उपकार को भुला ही कैसे सकती हूँ? जिन्होंने बहते हुए तिनके को सहारा दिया

और वह भी ऐसे समय में जब कि दुनियाँ उसे फूटी नजरों देखना नहीं चाहती थी, कैसे उनके उपकार को भुला दूँ। मानती हूँ—ये खरा सोना नहीं हैं, फिर भी मेरे लिए बहुत कुछ हैं। मैं 'बहुत-कुछ' पाकर कैसे छोड़ दूँ? मनुष्य को जहाँ दूसरे की बुराई देखनी चाहिए वहाँ उसकी अच्छाई पर भी नजर डाले बिना न रहना चाहिए—नहीं तो एकांगी देखना किसी काम का न होगा।

आज मुझे पता लगा कि किशोरी कितनी समझदार है—इसे मूर्ख कौन कहेगा? मैं उसकी तर्क-पूर्ण बातें सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े प्रेम से पान खिलाया! आज मुझे उसके सामने से अलग होने में दुख हो रहा था; पर, बहुत देर तक इस तरह बातें करना मुझे आपत्तिजनक बोध हुआ। बदनाम तो था ही, फिर जान बूझकर बदनामी की ओर दौड़ना उचित न जान पड़ा। 'चोर की डाढ़ी में तिनका' वाली कहावत थी। मैं डर गया, अतएव बोल उठा—बड़ा कष्ट दिया, किशोरी! जिससे तुम प्रसन्न रहो, वही करना उचित है। अच्छा, चलता हूँ।

किशोरी ने प्रसन्नतापूर्वक मुझे विदा किया। जाते समय उसने एक तृषित दृष्टि से मेरी ओर देखा और बोल उठी—जब कभी देख जाइएगा, सुशील बाबू! पर, दिल को जरा मजबूत बनाकर। देखती हूँ—आपका दिल अभी बहुत ही कच्चा है, जरा सी चोट पाकर छिन्न-भिन्न हो जा सकता है। पर, कुछ चिंता नहीं। साँच को आँच नहीं लगती।

आज मेरे मस्तिष्क का बोझ बहुत-कुछ हलका हो गया था।

आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई किशोरी से मिलकर! मैं उसकी सराहना करते हुए घर की ओर चल पड़ा।

छोटी भाभी कदाचित मेरी प्रतीक्षा में पड़ी थीं। गिरू आँगन में दौड़कर मुझसे लिपट पड़ा। मैंने उसे अपनी गोद में उठाकर मुँह चूम लिया। वह तुतलाते हुए बोला चित्थी आई है चित्थी, चाछा!

मैं मन-ही-मन सोचने लगा—कैसी चिट्ठी! किसकी चिट्ठी! मैं छोटी भाभी के कमरे के पास पहुँचा ही था कि वे हँसती हुई दीख पड़ीं। आज मुझमें परिवर्त्तन अवश्य हो गया था। मैं लजाता हुआ उनके पास पहुँचा। इतने में गिरू बोल उठा—चित्थी दे दे, चाछी! "दुर, पगले! कह दिया!"—छोटी भाभी ने मुस्कराते हुए उससे कहा और मेरी गोद से उसे लेकर उसके गाल को थप-थपाया। भाभी ने बिछावन के नीचे से लिफ़ाफ़ा निकालते हुए कहा—लीजिए, साहब, यह है आपकी चिट्ठी। मैंने हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया। मैं वहीं कुर्सी पर बैठकर, लिफ़ाफ़े से पत्र निकालकर पढ़ने लगा लिखा था—

प्रिय सुशील,

तुम घर गए, पर वहाँ से एक पत्र तक न भेज सके। मैं नहीं कह सकता कि इस व्यवहार से मैं ही नहीं, उषा भी कम दुखी नहीं है। वह तो तुम्हारे विना बड़ी उदास रहा करती है। उठते-बैठते आहें भरती है। क्या तुम्हें इतना निष्ठुर होना चाहिए था? तुम शीघ्र आओ, यदि आने में अधिक विलंब हो तो उन्हें डाक

से पत्र देकर सुखी करो। मेरा आशीर्वाद ग्रहण करो। उषा का पत्र इसी के साथ है, उसे पाकर प्रसन्न होंगे।

तुम्हारा—

धर्म पिता,

दूसरा पत्र—

सुशील बाबू, कष्ट के लिए क्षमा। मैं आपको यह कष्ट न देती यदि पिताजीने मुझे लिखने को बाध्य न किया होता! अच्छा आप प्रसन्न रहें; पर अपनी कुशल भी तो समय-समय पर जनाया करें। आपको शायद स्मरण होगा—जुलाई १५ से एम० ए० की परीक्षा प्रारंभ होगी। आपने तैयारी तो अवश्य की होगी फिर आपको घर पर विशेष रहना उचित नहीं प्रतीत होता। संपूर्ण नहीं तो अल्प शक्ति से ही काम लेना चाहिए। आशा है, विजय आपको ही होगी। विश्वास है, आप प्रसन्न होंगे।

आपकी—

उषा।

पत्र देने में विलंब न कीजिएगा।

दोनों पत्रों को मैं एक ही साँस में पढ़ गया। छोटी भाभी वहीं खड़ी थीं। उन्होंने पढ़ना समाप्त देखकर पूछा—क्या मैं जान सकती हूँ, सुशील बाबू ? यदि आपत्ति...।

आपत्ति तो नहीं; यदि चाहो तो पढ़ सकती हो। पर, बेहतर तो यह होगा कि पटना चले जाने के कुछ पहले मैं इसे तुम्हें दिखाऊँ।

फिर पत्र मैंने उनकी ओर बढ़ा दिया। उन्होंने बिना कुछ कहे ही उसे अपनी संदूकची में रख छोड़ा। मैं वहाँ से चलने को तैयार हुआ तो वे बोल उठीं चिट्ठी मैंने रख छोड़ी है। किंतु जब जरूरत हो, उसे निकाल लीजिएगा।

मैं बिना कुछ उत्तर दिए अपने कमरे की ओर चल पड़ा।

२६

इधर मेरा जीवन हा-हाकारपूर्ण हो चला था। उसमें प्रलय की झंझा बह रही थी, वह वेदना से खिन्न हो उठा था, उसके कोने-कोने में दर्द था, कसक थी, संताप था, पीड़ा थी। छोटी भाभी से अनबन के कारण मैं एकांत में रहा करता, किसुन के घर जाना भी मुझे अपमानजनक जान पड़ता था! यद्यपि मैं एकांत-प्रिय अवश्य था, पर, ऐसा तपस्वी न था कि मुझे उस अवस्था में अपनी साधना की विमल विभूति दीख पड़ती। मेरे लिए तो 'आलसियों के दिमाग में भूतों का अड्डा' वाली कहावत ही चरितार्थ हो रही थी। मैं एकांत में पड़े-पड़े ऐसी अनर्गल बातें सोचा करता कि जिनसे मैं स्थिर-चित्त न रह सका! पर, मेरे लिए दूसरा उपाय ही क्या था।

बड़ी भाभी के उग्र स्वभाव के सामने मैं पहले से ही नगण्य था। मँझली भाभी न जाने क्यों मुझसे खुलकर मिल भी नहीं सकतीं। संभव है, वे हृदय से मुझे चाहती तो थीं किंतु, उनकी

नारि-सुलभ सहज लज्जा उन्हें सदैव दबाए रहती। उनके साथ रहने का मुझे बहुत कम ही सुयोग मिला था और यही प्रबलतम कारण था कि वे मुझसे छेड़खानी न कर सकती। फिर मेरे लिए यह कठिन था कि मैं उन्हें छेड़कर अपने मनानुकूल बना ले सकूँ। हाँ, छोटी भाभी के अंतस्तल में मेरा एक प्रकार से आधिपत्य था—स्नेह का स्पर्श था—नहीं, उन्होंने अपना जीवन-रस डाल-डालकर मेरे अनुर्वर हृदय को हरा भरा-सा बना दिया था। पर, वे भी मेरी दृष्टि से उतर गई थीं। मैं उन्हें वह चुटीला चुहिया समझता जो भीतर घुसकर जिगर को कुरेद रही हो। उनके प्रेम में गाँठ पड़ गई थी फिर 'जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं।'

मैं नहीं कह सकता कि मैंने उनपर दोषारोपण कर उनके प्रति न्याय किया था वा अन्याय। मैं लाख चेष्टा करने पर भी अपने हृदय को उनके मनानुकूल न बना सका। एकांत-वास करते हुए नित्य एक-न-एक दुरभिसंधि ही सूझती। उनके गुण, मेरी दृष्टि में अब, दोष ही प्रतीत होने लगे थे! मैं अपने को किसी प्रकार भी सँभाल न सका!

उस दिन उन्होंने पत्र देखना चाहा था, यह उनका अन्याय न था। उसके पहले मैं उनके पत्रों को—ऐसे ऐसे पत्रों को, जो दूसरों को दिखाया नहीं जा सकता था, निजी पत्रों के समान, पढ़ता और वे भी निधड़क मेरे पत्रों को पढ़तीं—आनंदित होतीं। उन्हें उत्फुल्ल देखकर मुझे हर्ष होता, पर उस दिन के मेरे व्यवहार से उनकी अंतरात्मा कितनी क्षुब्ध हुई होगी? उन्होंने स्वभावतः

ही उसे देखना चाहा था; पर, मैंने क्या किया ? वे समझ गईं और इसीलिए तो उसे न पढ़कर संदूकची में रख छोड़ा। कितनी चोट पड़ी होगी उन्हे ! फिर मेरी कलुषित आत्मा कह उठती—यदि नहीं पढ़ना था तो क्यों उसे लेकर रख छोड़ा। अवश्य पढ़ा होगा ! पर, यह तो अभद्रता है न कि मना करने पर भी दूसरा कोई किसीका पत्र पढ़ ले ! पढ़ तो अवश्य लिया होगा उन्होंने, साथ ही समालोचना भी चलतीं होगी उसपर ! क्योंकि उषा का पत्र था न ! एक रमणी दूसरी रमणी को पास में देखकर जल उठती है। वह किसी का सुहाग देख नहीं सकती। उसे दूसरों के सुख से घृणा होती है। यह है ·नारि-हृदय की कुत्सित भावना ! उन्हें क्या अधिकार था मुझपर ! क्यों अन्याय किया उन्होंने !

सोचते-सोचते मैं बौखला उठा, भवें तन गईं, आँखों में खून उतर आया, नथने फूलने लगे ! कानों की पट्टियाँ झनझना उठीं। रोष में मैं उबल पड़ा। आत्मीयता का गला घुट चुका था, सौहार्द्र की तंत्री ढीली पड़ गई थी।

अब वह घर अरण्य-सा दीख रहा था। अपना कहानेवाला वहाँ दूसरा था ही कौन ! वे तो मेरी छाया से दूर रहतीं-नहीं, मैं ही उनसे खिंचा-सा रहता, दूर रहता। उनकी आकृति से घृणा हो चुकी थी।

मेरा विषाक्त जीवन मुझे खाए डालता था। वहाँ किसे गरज पड़ी थी कि मेरी खोज करे ! मैं अपने पथ का आप आविष्कारक

था। पर मैं भटक रहा था, फिर भी मैं बढ़ा जा रहा था। चारो ओर विस्तृत मैदान—खुलकर सैर लगाना! किसी का धोखा न खतरा! अब मेरा अवलंब किशोरी थी और सहयोग देनेवाला था किसुन—वही लंपट किसुन!

इधर मैं किशोरी की भाव-भंगियों पर पागल हो रहा था—दीवाना हो रहा था। दिन-के-दिन और रात-की-रात मैं उसीके साथ प्रेम-संभाषण करता। उसमें मधु था, मदिरा थी, नशा था। मैं उसे आँखों से पान करता, पर हृदय आलुलायित रहता—तृष्णातुर रहता। मैं मदांध हो चुका था! मेरी आँखों पर, हृदय में, मस्तिष्क मे—सर्वत्र—वही रूप था—वही यौवन था, वही छटा थी—वही अदा थी। किशोरी मेरी हो, मैं किशोरी का होऊँ—यही थी मेरी उत्कंठा-वासनाजनित उत्कंठा! मैं प्रेम की नहीं, वासना को झंझा में अपने को बहा चुका था। मैंने ठुकरा दिया था सारी आशा-आकाँक्षाओं को, सारे अरमान को—केवल किशोरी को पाने के लिए। मैं किशोरी के प्रेम का भिखारी था—रूप का पुजारी था! मैं अपनी भिक्षा की झोली लेकर उसके चरणों पर लोट रहा था।

एक दिन आतुर हृदय, वासना से बद्ध हृदय, छटपटा उठा उसे हृदय से लगाने को। संयोग था, वैसा ही वातावरण था! मैं किशोरी के पास था, किशोरी मेरे पास थी। प्रकृति नीरव थी—शांत थी। केवल मैं जाग्रत था और जाग्रत थी मेरी किशोरी। दोनों नीरव थे—निस्पंद!!

"क्या ठुकरा ही दोगी, किशोरी ?"—मैंने निस्तब्धता भंग की।

"नहीं।"

"तो यह ठुकराना नहीं है ?"

"कभी नहीं।"

"मैं तुमसे प्रेम करता हूं।"

मैं भी वही करती हूँ।"

"तो फिर······तो फिर यह—यह निष्ठुरता क्यों ?"

"आप निष्ठुरता कहते हैं ? हर्गिज नहीं, मैं निष्ठुर नहीं हूं।"

"निष्ठुर नहीं हो, किशोरी ?"

"मैं ?—नहीं। निष्ठुर तो और कोई है।"

"कोई और ?— ······कौन है वह ?"

"वह हैं मेरे देवता।"

"क्या तुम देवता समझ रही हो मुझे !"

"शायद—उससे भी ऊपर।"

"तो क्या देवता तरसाए जाते हैं ?"

"नहीं तो क्या देवता एक अनाथिनी पर······।"

उससे आगे न बोला गया। उसके गालों का रंग और गहरा हो चला। उसने दूसरी ओर गर्दन फेर ली।

"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, किशोरी, तुमपर मरता हूँ।"

"प्यार करने की यही पहिचान है क्या ? क्या मुझपर आपका यह अन्याय नहीं है ?"

"ऐसा न कहो, किशोरी ! मुझे और न ठुकराओ ! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, हृदय से लगाना ......।"

"छिः ! भगवान के नाम पर भी तो डरिए । मैं नहीं जानती–आप इतने कलुषित हैं—इतने विकारमय हैं ! सुनिए, सुशील बाबू ! प्यार करने का यह मतलब नहीं कि उसकी आत्मा को आप कुचल डालें ! मैं भी आपको प्यार करती हूँ—पर, मैं इसे स्वर्गीय वस्तु समझती हूँ ! प्रेम का संबंध आत्मा से है, शरीर से नहीं । मुझे आपपर दया आती है ! मैं आपको क्षमा करती हूँ ।"

अब मेरी आँखें खुल पड़ीं । जिसके लिए मैंने छोटी भाभी का निरादर कर दिया, घर को जिसके चलते भूतों का अड्डा बना डाला, उषा के प्रेम को ठुकरा दिया—आज उसीकी आँखें मेरी ओर से फिर गइ। आज उसने अपने आपका परिचय दे दिया ! आह ! कितना धोखा—कैसा छलावा !

पर मैं अंधा हो रहा था पागल-सा बौखला उठा था । मैं सोच रहा था जिसने मुझे पथ-भ्रष्ट किया है उसे मैं भी पथ-भ्रष्ट करूँगा। प्रतिशोध के भाव से मैं चंचल हो उठा और अपने साहस का संचय करके बोल उठा—देखो-देखो एक बार मेरी ओर किशोरी। इतनी निष्ठर न हो ! मेरे जीवन के सारे अरमान तुमपर हैं, किशोरी। जानती हो, मैं कितना पागल हो उठा हूँ तुमसे अपनी पिपासा शांत करने को !

मुझसे रहा न गया। मैंने झट से उसे अपनी भुजा-पाश में कस लिया । वह झिलमिला उठी, अपने बचाने की भरसक चेष्टा की ।

वह फूट-फूटकर रो उठी। आह! उसका रुदन कितना मर्म-स्पर्शी था। मेरी आत्मा को जोर का धक्का लगा। किशोरी का वह रौद्र रूप देखकर मैं स्तंभित-सा हो गया। वास्तव में उसका वह प्रलयंकर रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था। किशोरी रूठ-कर, मुझपर एक वक्र-दृष्टि डाल कमरे से बाहर हो गई। मैं अप-मानित, लज्जित क्षुब्ध और निराश होकर, वहीं, उसी तरह बैठा ही रहा। मेरी आशा चूर-चूर हो गई, हृदय भग्न हो गया। आह! नारि-हृदय विधाता ने कितना निर्मम—कितना कठोर बनाया है!

मैं संक्षुब्ध होकर अपने घर की ओर चल पड़ा। मैं लज्जा-से गड़ा-सा जा रहा था। रास्ते में कभी-कभी तो यह विचार होता कि लौटकर उससे क्षमा माँग आऊँ। पर, दुर्बल और पाप-पूर्ण हृदय में ऐसा साहस हो ही सकता है कैसे? मैं अपने कमरे में आकर चोर की नाईं चुपचाप पड़ रहा। मानसिक क्षोभ, ग्लानि और निराशा से मैं आज आहत हो चुका था। पर इससे मेरी विषाक्त आँखें खुल गईं! मेरे पाप का प्रायश्चित्त प्रारंभ हुआ। मैं पश्चाताप और और आत्म-चिंता से मेरे को निर्मल करने लगा। आँखों से आँसुओं की धारा फूटकर मेरे क्लांत कलेवर को प्लावित करने लगी।

रात काटी, प्रातःकाल हुआ। इच्छा हुई, खुलकर छोटी भाभी से मिलूँ, अपनी दुख-कथा कह सुनाऊँ। पर, मैं वैसा न कर सका। निर्बल आत्मा में वह साहस कहाँ? विचार उठा—अब यहाँ रहना फिजूल है, चल देना चाहिए। मैं यहाँ के वातावरण से

घबरा उठा था। पर, संयोग तो देखो, दूसरे ही दिन मिस्टर राय का तार मिला। लिखा था—मैं अस्वस्थ हूँ, शीघ्र आओ।

मुकदमे का फैसला हो गया। मैं आधे का खुद मालिक बना और आधे में उधर तीन भाई। बड़े भैया को आधे का तृतीयांश छाँट दिया गया और हमलोगों के हिस्से साथ ही रहे। बड़े भैया और भाभी का मोह जाता रहा! बड़ी भाभी तो मानो आस्मान से ही गिरीं। पर, उनका मुँह बंद न हुआ।

बँटवारा होने पर भी तीन चार मास तक किसी तरह कट गया, पर हम लोगों को प्रसन्नता न हुई। फिर सभी ने विचार-कर देखा—जमींदारी शामिल कर दी जाय, और संचालक बड़े भैया ही रहें। इस तरह उनकी आत्मा संक्षुब्ध न रहेगी। फलतः जमींदारी मिला दी गई और बड़े भैया ही फिर से निरीक्षक बने। इस तरह हमलोगों ने उनके प्रति श्रद्धा दिखलाई।

२७

गाड़ी अपनी चाल से जा रही थी, पर मैं दो विरुद्ध दिशाओं में प्रवाहित होता जा रहा था। मेरे दृष्टि-कोण पर दो चित्र लटक रहे थे—दोनों ही करुणोत्पादक थे। मेरा हृदय घात-प्रतिघातों का नीड़ बन रहा था। कभी तो मैं किशोरी के प्रति चिंतातुर होता—चिंतातुर होता इसलिए कि उसने ऐसा गर्हित कार्य किया क्यों? घर से क्यों निकली, कहाँ निकली—किसके आश्रय में निकली!

कौन है उसका अपना। उससे तो यह भी पता चला था कि उसका अपना कहलानेवाला और कोई नहीं है। फिर वह गई क्यों। क्या उसके हृदय में मेरे दुर्व्यवहार का इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि अपने को सँभाल न सकी। उसका कितना शाश्वत प्रेम था मेरे प्रति! पर, मैंने उसका कितना दुरुपयोग किया। कितनी चोट पड़ी होगी उसकी अंतरात्मा को! वह कितनी भावुक है। भय तो यह है कि कहीं वह आत्म-हत्या न कर बैठे! शिव-शिव! कितना बुरा होगा! मेरे चलते उसकी आत्म-हत्या! भावावेश में मैं चंचल हो उठा। आँखें बाह्य दृश्य को ओर पड़ी थीं सही, पर सर्वत्र अंधकार-ही-अंधकार दीख रहा था। इसी सिलसिले में छोटी भाभी का करुण-चित्र मेरे सामने खिंच आया। आह! आने के समय मैंने कितनी निष्ठुरता की उनके साथ! जरा, चलने की सूचना तक न दी। क्या सोचती होंगी वे! उस दिन किस करुण दृष्टि से वे मेरी ओर देख रही थीं। उफ! मैंने उनके सरस सुंदर हृदय को कितनी बेरहमी के साथ ठुकरा दिया।

इसीके साथ मेरे अतीत की स्मृतियाँ चित्र-पट की नाईं एक-के-बाद दूसरी आईं—चली गईं। मैं उच्छ्वसित, उद्वेलित हृदय पर सारे बोझों को लादकर सहानुभूति की उनसे आशा बाँध रहा था। पर, आज मैं उनसे कोसों दूर निकल चुका था। आह! यदि मैं आज उनके पास होता! यदि मैं उनके पास होता तो अवश्य अपने अश्रुकणों से उनके पाद-पद्मों को धो डालता। इतना रोता कि बरबश उन्हें मुझे क्षमा करनी ही पड़ती। वास्तव में मैंने

इन दो आत्माओं के साथ अन्याय किया था। मैं उन्हें अपना हृदय भग्न करके भी संतुष्ट करने में सक्षम नहीं हो सकता।

कुछ देर तक मेरे मन की यही दशा रही। प्रकृति बदली। इधर मेरे दुखांत नाटक का यवनिका पतन हुआ। आशा-आकांक्षा सजग हुई। उषा की मिलनोत्कंठा से मेरे अधर-प्रदेश पर एक हल्की सी स्मित-हास्य की रेखा खिंच आई। उस की मनोहारिणी प्रतिमा विहँस रही थी मेरे नेत्रों पर! उसका व्यंगपूर्ण संदेश गुद-गुदा रहा था मेरे अंतस्तल को। उसकी कवित्वमई सुकुमार भाव-नाएँ, उसकी अस्फुट व्यंग-लहरी, उसकी फबती हुई चुटीली अन्योक्तियाँ, उसकी मनोमुग्धकारिणी भाव-भंगिमा—सभी अल-क्षित रूप से मेरे रोम-रोम को स्पंदित, पुलकित, विहँसित कर रहे थे। वाह्य दृश्यावली सौंदर्यमय, सुष्ठु और आह्लादकारिणी जान पड़ी। वासंती पवन मनःप्राण में अपना मधुर संगीत भर रहा था। वह मदमस्त तराना। अब तो कुछ घंटों की देर थी।

देखते-ही-देखते ट्रेन पटना जंक्सन पर लगी। मैं उतर पड़ा और बाहर आकर एक घोड़ा गाड़ी की ओर उल्लास के साथ चल पड़ा। बात-की-बात में गाड़ी मिस्टर राय के फाटक पर आ लगी। रात के नौ बजे थे। देखा—बंगला—राजप्रासाद-सा जगमगाता बंगला—आज श्री-हीन-सा बोध हो रहा है! न तो उसके कमरों में विद्युत का तीक्ष्ण प्रकाश है और न वह सजीवता, न वह चहल-पहल! जान पड़ता था—ठठ्ठर खड़ा है, पर जान निकल गई है! वह कमरे में एक टिमटिमाती-सी दीप-शिखा,

विधवा के करुण-क्रंदन-सी विषादपूर्ण थी। उफ्! ऐसी दशा क्यों है?—यह प्रश्न मेरी अंतरात्मा का था! हृदय आप-ही-आप भग्न-सा हुआ जा रहा था। मैं स्तब्ध था, आँखें स्तब्ध थीं—अप्रतिहत थीं—मानो ज्योतिशून्य हो रही हों। मैंने दिल को कड़ा किया, आगे बढ़ा—बागीचे के निखरे फूल मानो मुझे देखकर मेरा उपहास कर रहे थे। मुझे आज उनके सौंदर्य पर काई-सी बोध हो रही थी। आह! वास्तव में वह सौंदर्य कितना हृदयविदारक था! फिर भी मैं आगे बढ़ता जा रहा था। देखा—दर्वाजे पर 'टामी' नामक कुत्ता निस्तेज पड़ा है। उसमें न तो वह मस्तानापन और न वह ताजगी। मानो, किसी के विछोह में उसके आँसू ही सूख गए हैं। मैंने उसे पुचकारा, पर वह मुझे अपरिचित समझकर ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। जान पड़ा—वह मुझपर खिन्न-सा हो रहा है। मैं वहाँ कुछ-ठिठक-सा गया था। इसी समय एक ओर से बूढ़े नौकर ने आकर धीरे से मुझे सलाम किया। मैंने उसे पहचान लिया। मैंने विस्मित होकर पूछा—कहो, मजे में हो न! "आह, बाबूजी"—उसने आँखों में आँसू भरकर कहा—"बड़े बाबू आज इस दुनिया में ·······।" मैं बीच ही में बात काटकर कहा—वे नहीं हैं।?

"हाँ! दीदी रोते-रोते मुर्दा-सी हो रही है।"—उसने आँख मलते हुए कहा।

"कहाँ हैं?"

"आइए भीतर।"—और मैं उसके साथ भीतर की ओर चल पड़ा।

मेरा हृदय उद्वेलित हो रहा था। मैं अपने आपे में न था। हृदय कहता था कि किस तरह उषा को मैं धीरज बँधा सकूँगा। मैंने धीरे-धीरे उसके कमरे में प्रवेश किया। देखा—उषा दरी पर नीचे एकांत में पड़ी है, केश बिखरे पड़े हैं। मुँह पीला-सा हो गया है। श्री जाती रही है। जान पड़ा—रोते-रोते वह श्रांत होकर नीरवनिस्तब्ध हो रही है।

मैं कुछ क्षण तक वहीं जड़-सा खड़ा रहा; पर, हृदय की घनाभूत वेदना—वह वेदना जो सहानुभूति, ममत्व और आत्मीयता के गर्भ से प्रसूत होती है—प्रेरणा कर रही थी बेचारी मातृ-पितृ-हीना उषाके आँसुओं को पोंछने, उसकी सर्द आहों पर आँसू बहाने को। मेरे लिए अब क्षण-भर ठहरना दूभर हो चला था, मैं अपने को संयत न कर सका। मैंने उसके बिखरे केशों पर हाथ फेरा, उसके अस्तव्यस्त कपड़े को संयत कर दिया। मेरे दीर्घ उच्छ्वासों से उसके सूखे केश उड़-उड़कर उसके मुँह पर पड़ रहे थे। इतने में वह सजग हुई, उसने करवटें बदलीं, आँखें खोलीं और मुझे सामने बैठे हुए देखा। उसकी सुषुप्त वेदना सजग हो उठी। वह उठी और मुझसे लिपटकर फूट-फूटकर रो पड़ी। मुझसे भी न रहा गया, आँखों से आँसू फूट पड़े मानो हृदय का बाँध ही टूट पड़ा हो। उस समय की विलाप-व्यथा को सुनकर पत्थर भी पसीज जाता फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या है।

कई दिन बीत गए। मैंने अपनी शक्ति-भर उषा को सँभालने की, धीरज बँधाने की, ढाढ़स देने की सफल चेष्टा की। फल-

स्वरूप, उसकी दशा में बहुत-कुछ परिवर्त्तन हो चला।

उषा अपने काम में पूर्ववत् लगी! मैंने अपने काम के साथ-साथ घर-गिरस्ती का भी भार लिया, मैंने जी-जान से कोशिश की। फल-स्वरूप, जो काम जैसा चलता था, वैसाही चलता रहा। कुछ विशेष परिवर्त्तन किसीको दीख न पड़ा।

देखते-ही-देखते छः मास निकल गए। अब मैं कुछ निश्चिंत हो सका था।

हम दोनों की काव्य-रचना-प्रवृत्ति फिर से सजग हुई। अवकाश के समय हम दोनों आमोद-प्रमोद के साथ साहित्य-समीक्षा और काव्य-रचना की ओर एक-से जुट जाते! यथार्थ में, इन कामों से हमलोगों का बड़ा मनोविनोद होता और हमलोग सांसारिक कष्टों-झंझटों को हँसी-खेल में उड़ा देते! यह जीवन के विकास का मधुर उषा काल था।

अचानक वह दिन भी आया जिसे जीवन का मधुरतम दिवस कहते हैं। शायद वह वसंत पंचमी का पुनीत दिवस था। रात्रि में अनभ्रनीलाकाश तारिका-राशि से जगमगा रहा था। चंद्रमा की क्षीण कला में जीवन की मादकता भरी हुई थी। प्रकोष्ठ विद्युत-प्रकाश से जगमगा रहा था। उषा मेरे साथ कोच पर बैठकर 'माधुरी' के आवरण पृष्ठ पर खचित मूर्त्ति को अपलक नेत्रों से निहार रही थी। यह मूर्त्ति थी युगल-जोड़ी की। कृष्ण अपने हाथों से राधा को बाँसुरी सिखाने में तल्लीन थे। राधा ललचाई-सी कनखियों से कृष्ण के मुख-मंडल की ओर निहार रही थी।

चित्रकार ने अपनी सफल तूलिका से कला का प्याला ही मानो उढेलकर रख दिया था। उषा कलाविद् थी। उसके सूक्ष्म भावों के समझने में उषा ने एक विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी। वह देखने में इतनी विभोर थी कि बोध होता था, वह स्वयं राधामय हो रही हो। मैंने कई बार उसकी ओर देखा, किंतु वह तो आत्म-विभोर थी—मेरी ओर कैसे देख सकती! मैंने नीरवता भंग करते हुए कहा—"यह कैसी तन्मयता है, उषा? कुछ कहो भी तो?"

उसके अधरों पर एक हलकी सी मुस्किराहट दौड़ गई और कुछ आँखों पर संकोच भी। फिर भी मेरे प्रश्नों का उत्तर देना था बोली—ना, न कहूँगी।

मैं उत्सुक हो उठा। समझ रहा था—ऐसी कोई बात अवश्य है, जिसे संकोचवश वह कह नहीं सकती। अतएव, मैंने अनुमान का सहारा लिया। कहा—अच्छा न बताओ। पर, म जानता हूँ, उषा, तुम क्यों नहीं मुझे बताना चाहती हो?

"अच्छा, यदि आप जानते ही हैं तो आपही क्यों नहीं बतलाते। देखूँ भी तो आपके अनुमान को!"—वह फिर भी मुस्किरा उठी।

"अनुमान ही नहीं; तुम तो बराबर मुझे कहा करती हो कि मैं मनोवैज्ञानिक हूँ। वास्तव में मैं तुम्हारी आकृति देखकर कह सकता हूँ कि तुम अभी कहाँ हो?"

वह हँस पड़ी। वह जानती थी कि अवश्य मैं चित्र को ही

बात कहूँगा। अतः उसने 'माधुरी' को बगल में रखते हुए कहा—कहाँ हूँ मैं ! सुनूँ तो !"

"बता दूँ !"—मैंने मुस्किराते हुए कहा।

"हाँ !"

"अच्छा लाओ वह पत्रिका !"

"ना—न दूँगी !"

"तो मैं न बतलाऊँगा।"

"आप बता ही नहीं सकते ! बतानेवाला यों ही बता सकता है !"

"यदि बताऊँ तो !"

"तो मैं ....।"

"हाँ तो मैं ?—कह दो न !"

"ना—न कहूँगी !"

"कहो—सकुचाती क्यों हो !"

"कहीं आप रंज तो न होंगे !"

"हर्गिज नहीं।"

"सच !"

"हाँ-हाँ सच !"

"तो म अपना जीवन उत्सर्ग कर दूँगी।"

"वाह ! वाह ! यह तो तुमने खूब कहा। उत्सर्ग कर दोगी अपने को ?"

"भूल थी मेरी ! भूल से मैंने.........।"

"भूल नहीं, यह तो उस हृदय से निकला है, जहाँ वास्तव में

मेरे लिए स्थान बन चुका था। अब चाहे भूल ही तुम क्यों न कहो। जानती हो, उषा, तुमने मुझसे जो कुछ छिपाना चाहा था उसे मैं समझ गया हूँ। तुम अभी राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी को विशेषतः राधा की तन्मयता को जो बाँसुरी-शिक्षा के समय हो रही है—देख रही थीं। राधा के हृदय में कितना उल्लास है! कितनी तन्मयता है। कितनी उत्कंठा है—कैसी सुंदर आकांक्षा है। पर, यह तो चित्रकार की मधुमयी साकार कल्पना है, उषा। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। उस सजीव अनुभव के सामने चित्रकार के हृदय की यह छाया आखिर छाया ही है।

उषा कटी-सी जा रही थी। उसका लज्जावनत मस्तक नीचे की ओर झुक गया था। वह उच्छ्वसित कंठ से बोल उठी—क्या मैं अनुभूत विषय को जान सकती हूँ।

"हाँ अवश्य!"—मैं कुछ रुककर बोल उठा—"मैंने इसका स्वयं अनुभव किया है, वह कहीं अन्यत्र नहीं—यहीं पर!—और तुम्हारे साथ तुम्हें शायद स्मरण हो वा नहीं; पर मुझे स्मरण है—जब मैं तुमसे 'प्रेम' का दार्शनिक विवेचन कह रहा था, उस समय तुम मेरी ओर जिन ललचाई आँखों से, मेरी आँखें बचाकर देख रही थी, वह क्या चित्रकार अपनी कूँची से राधा के मुख पर प्रकट करने में समर्थ हो सका है? तुम्हीं कहो—क्या राधा तुमसे किसी भी दशा में बढ़ सकी है!"

सहसा उषा का मुख आरक्तिम हो उठा। आँखों में आँसू छलछला आए। और वह उच्छ्वसित-उद्वलित होकर रो पड़ी।

"यह क्या—यह क्या उषा ! रो पड़ी क्यों ?"

वह आँसू पोंछकर बोली—अब मेरे जीवन में आँसू के सिवा और क्या है ? उस समय मैं मद से अंधी हो रही थी। उस समय मेरा स्वर्णमय भविष्य था। मैं तुम्हें प्यार की दृष्टि से देखती थी ! तुम अवश्य ही मेरी अंतरात्मा के समझने में समर्थ हुए हो ! पर, जानते हो, सुशील, 'प्यार' शब्द अब मेरे भाग्य में लिखा ही नहीं है !

उससे आगे न बोला गया। उसका प्रेम मेरे प्रति फूट पड़ा था ! वह सिसक-सिसककर रो उठी।

मैंने अपनी चादर की खूँट से उसके आँसू पोंछ डाले और सांत्वना के स्वर में मैं बोल उठा—मेरी उषा, मैं तुम्हें उस प्यार से वंचित नहीं कर सकता। तुम्हें अधिकार है। मेरे प्यार, मेरे प्रणय और एकमात्र मेरे प्राण को, जिस तरह तुमने मुझे आश्रय दे रखा है, आश्रय दो। मैंने अपने जीवन को तुम्हें पाकर धन्य किया है।

उसके आँसू मंत्र-प्रभाव की नाईं रुक-से गए। उसकी मुख-श्री खिल उठी। वह विनम्र स्वर में बोली—मैं हृदय से अभिनंदन करती हूँ, किंतु एक प्रार्थना है।

"वह क्या, उषा ?"

"मैं—मैं आपकी पत्नी के रूप में ·····।"

"बस; और कहने की आवश्यकता नहीं, उषा ! मैं तुम्हें उसी रूप में चाहता हूँ, तुम मेरी हृदयेश्वरी हो।"

मैंने उसके हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा—आज से मैं तुम्हें पत्नी के रूप में वरण करता हूँ, उषा! देखो, दीवाल पर पूज्य पितृदेव की प्रतिमूर्त्ति लटक रही है, वही हमलोगों के साक्षी रहेंगे। हम लोग उन्हें, इस मंगल बेला में, एक बार भक्ति-पुरस्सर प्रणाम करें।

मैंने उषा को हाथ पकड़कर उठा लिया। हम दोनों ने खड़े होकर उनके प्रति प्रणाम किया।

कुछ क्षण तक हमलोग स्वर्गीय अनुभूति में संतरण करते रहे। वास्तव में जीवन का यह मधुमय वसंत कितना शाश्वत, कितना पवित्र और कितना स्वर्गोपम था! हम लोग दो होकर भी एक हुए।

कुछ क्षण के बाद उषा को स्मरण हुआ—पिताजी ने मृत्यु के कुछ समय पहले उसे एक बंद लिफाफा दिया था और कहा था—सुशील को दे देना। उषा ने उसे रख छोड़ा था; पर, स्मरण होते ही कुछ लज्जित-सी होकर वह सेफ के पास गई और उसमें से एक स्वर्ण-मंडित मंजूषा निकाल लाई। उसने उसे मेरे सामने खोला और भीतर से लिफाफा निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने उसपर का लिखा पता पढ़ा—लिखा था—श्रीयुत सुशीलकुमार वर्मा और कुमारी उषा राय!

"क्या तुमने इसे पढ़ा नहीं है, उषा"—मैंने जिज्ञासा के स्वर में कहा।

"नहीं तो!"—आश्चर्य से बोली, "मैं क्यों खोलती? पहले,

देखो, तुम्हारा नाम है और पीछे मेरा। इसपर पहले तुम्हारा अधिकार है और बाद मेरा!

वह मुस्किरा उठी।

"अच्छा, तो मैं अपना अधिकार तुम्हें देता हूँ।"

"नहीं, भूलते हो, प्रियतम! मैं तो स्वयं तुम्हारी हूँ, मुझपर भी तो तुम्हारा ही अधिकार है। फिर, दूसरे की तो बात ही क्या! लो, खोलकर देखो!

मैंने उसे खोल डाला। भीतर एक सुंदर पेपर पर स्पष्ट अक्षरों में वह पत्र समाप्त हुआ था। मैं उसे पढ़ने लगा—लिखा था—

"प्रिय सुशील,

मृत्यु-कालीन शय्या पर आज पार्थिव शरीर को रखकर मैं सूक्ष्म शरीर के साथ यहाँ से विदा हो रहा हूँ। मृत्यु-शय्या पर यदि मेरी कुछ साध थी तो एक यही कि मैं एक बार—हाँ, एक बार ही और वह अंतिम बार तुम्हें आँख पसारकर देख लूँ। किंतु, मेरे भाग्य में यह बदा न था? अतएव, आज उसे अपनी छाती पर लादे लिए जा रहा हूँ। हाँ, मेरे इस अंतिम अनुनय-विनय का फल संतोषजनक हुआ तो मेरी आत्मा को वहीं प्रसन्नता-लाभ होगी!

मैं यद्यपि जानता हूँ कि मैं समाज के विरुद्ध तुम्हें उभारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। पर, मेरा विश्वास है, तुम इस कंटकाकीर्ण पथ को परिष्कृत कर न केवल उषा का ही उद्धार करोगे वरन्

मेरी आत्मा को भी कम सुखी न करोगे। सारांश यह कि तुम दोनों प्रणय-रज्जु में बद्ध हो जाओ। मैं तुम दोनों को पति-पत्नी के रूप में देख सकूँ। पर, एक बात है और वह यह कि अपने अभिभावक की राय अवश्य ले लेना। मुझे आशा है, तुम्हारे मालिक अवश्य इस कार्य में तुम्हारे सहायक होंगे।

इसके सिवा, कहते दुख होता है, संभवतः तुम मुझसे घृणा भी करने लग जाओ। पर, अब घृणा करके ही क्या करोगे, जब तुमसे मैं आज अनंत दूरी पर रहूँगा। यदि चाहता तो मैं इस बात को गुप्त ही रखता, पर ऐसा न कर सका। मैं मृत्यु-शय्या पर क्यों ऐसा गर्हित कार्य कर अपनी आत्मा को धोखा दूँ! जानते हो, तुम्हारी स्नेहमयी उषा रक्षिता कन्या है! पर, इस बात को कदाचित् उषा नहीं जानती।

यदि उषा को इस कारण तुम स्वीकार करने में असमर्थ हो तो तुम उससे अपने को बचा लेना—यह तुम्हें अधिकार है, पर साथ ही यह मेरी आज्ञा है, कठोर आज्ञा है कि तुम उसे अपने हाथों से बध कर देना। नहीं तो आगे चलकर यौवन के नशे में उससे ऐसा गर्हित कार्य बन पड़ा तो मृत्यु के बाद मेरी आत्मा उसके पापों से संतप्त और क्षुब्ध रहेगी। आशा है, तुम दो में से एक अवश्य पूर्ण करोगे।

हाँ, सारी संपत्ति, यदि तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे, तो, तुम लोगों के काम आवेगी, अन्यथा तुम्हे अधिकार है, तुम इसे धार्मिक, सामाजिक वा इसी तरह के अन्य कामों में सदुपयोग

करना। मैंने दान-पत्र में सभी का उल्लेख कर दिया है।

हाँ, एक बात और है। तुम इस पत्र को कभी भी उषा को न दिखाना। संभव है, इससे वह दुखी होगी और उस दुख से वह कहीं आत्म-हत्या न कर ले। उसके नाम का दूसरा पत्र अलग है, उसे तुम तब दे देना जब तुम उसे दांपत्य-सूत्र में बाँध ले सकोगे अन्यथा उसे देने की भी आवश्यकता नहीं है।

मंगलमय तुम्हें वह शक्ति दे जिससे तुम उषा का कल्याण कर सको।

मरणासन्न संक्षुब्ध पिता।

दूसरा पत्र जो उषा के नाम था, यह है—

"बेटी मेरी, आज तुमसे बिदा हो रहा हूँ। मैं तुम्हें सुशील के हाथों सौंपे जा रहा हूँ। वह भद्र कुलोत्पन्न है, विद्वान् है, तुम्हें आजीवन प्रसन्न करेगा—मुझे विश्वास है। तुम आजीवन सुशील की पति के रूप में आराधना करोगी—मानोगी। आशा है, मेरी आज्ञा को अवहेलना की दृष्टि से न देखोगी। भगवान्, तुम्हें प्रसन्न रखे।

तुम्हारा—पिता।"

मैं कुछ काल तक, पत्र पढ़कर भावावेश में पड़ा रहा। आह! उषा रक्षिता-कन्या है! पर, उसे पहले ही अंगीकार कर चुका था मैं! अतएव, उसका पत्र उसकी ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा—लो, उषा! तुम्हारा भी पत्र है। उसने उसे प्रसन्नता से उठा लिया। वह एक ही साँस में उसे पढ़ गई! पढ़ते-पढ़ते ही उसका प्रसन्न

मुख-मंडल खिल उठा। मैंने उसे अपनी ओर खींचकर आलिंगन-पाश में बद्ध कर लिया।

२८

मेरे जीवन का वह मधुमय वसंत कितना मादक था किंतु कितना शाश्वत! उषा में जीवन था और जीवन में उषा थी। वास्तव में उषा ने मेरे अंधकार-पूर्ण-जीवन में, उस जीवन में जो संसार के लिए विद्रुपमय था—व्यंगमय था—ज्योति दी थी—मेरी आँखों को, मेरे अंतस्तल को उसने ज्योतिर्मय कर दिया था! उसके प्रेम में सुधा थी, संगीत था, साधना की सिद्धि थी—विभूति थी, वैभव था, वसंत था और न जाने क्या क्या था! मानो मैं वसंत था और वह उसकी भीनी गंध थी, मैं उत्फुल्ल कमल था और वह उसकी सौंदर्य थी! मैं संगीत था और ज्योति उसकी मूर्च्छना थी। और सबसे अधिक मैं देही था और वह उसकी आत्मा थी! वास्तव में उषा मेरे लिए थी और मैं उसके लिए! मानो वह मेरे लिए ही देवता के अभिशाप-स्वरूप स्वर्ग से भू पर उतरी थी!

पर, संसार में जिसका उदय हुआ है, उसका अंत भी होता है। उत्थान के पतन का सामंजस्य भी उसी विश्व-सूत्रधार की लीला है। उसी तरह मेरे प्रेमाभिनय में संशय ने स्थान प्राप्त कर लिया था। मैं वास्तव में संक्षुब्ध था। मिस्टर राय ने अपने पत्र में विवाह के लिए अभिभावक से राय लेने का भी निर्देश कर दिया था—वही था मेरी समस्या और संशय का मुख्य विषय!

बड़े भैया क्या मुझे ऐसा करने की सलाह देंगे ? पर, आज्ञा के पहले ही तो मैं उषा को अपना चुका था। यदि आज्ञा माँगने पर उसे भैय्या अस्वीकृत कर दें तो क्या उषा से संबंध-विच्छेद हो सकता है ? पर, संबंध-विच्छेद की प्रथा तो हिंदू-संस्कृति में है ही नहीं। आह ! उषा रक्षिता-कन्या है !—स्वजातीया नहीं। यह असवर्ण विवाह · ! छिः, कितना गर्हित कार्य किया ! तो उसे छोड़ दूँ ? उषा की आत्म-हत्या ·····! नहीं, हरे—हरे ! हत्या ! वह भी उषा की !—प्रेयसी की।—विश्व-सौंदर्य के आदर्श की ! वह भी स्वर्गीय आत्मा की आज्ञा पर पदाघात कर !···नहीं, हर्गिज नहीं हो सकता ! मैं पुण्यात्मा को धोखा नहीं दे सकता। अवश्य उनकी आज्ञा का पालन करूँगा ! उन्होंने तो अभिभावक की सम्मति लेने का ही केवल निर्देश किया है। लेता हूँ मैं उनकी सम्मति ! देखता हूँ, वे मेरे कृत्य पर प्रसन्न होते वा नहीं। यदि नहीं······यदि नहीं, तो····· तो क्या ? मैं ठुकरा दूँगा पैतृक-संपत्ति को, नाता तोड़ लूँगा पूज्य भैया से, स्नेहमयी भाभी से और परिवार-वर्ग से ! और सबसे अधिक उस समाज से, जिसने अपनी संकुचित परिधि में सीमित कर रखा है कितने उठते हुए हृदय को, हृदय की उत्कंठा को, उमंग को, आवेग को ! आह ! हृदय-हीन समाज को लेकर क्या करूँगा। आखिर उसका अर्थ ही क्या ? प्रेम सीमित नहीं रह सकता ! इसके लिए सीमा निर्द्धारित नहीं की जा सकती ! क्योंकि प्रेम विश्वात्मा की विभूति है—वरदान है।

फिर भी मैंने बड़े भैया को पत्र लिख दिया ! लिख दिया

अपने उस आशय को, जिसका निर्देश राय महोदय ने अपने पत्र में किया था! यद्यपि आत्मा बलवान् थी मेरी! तथापि उसमें स्पंदन हो ही जाता था। मैं अतीत पर संक्षुब्ध और आगत पर विषण्ण हो रहा था। मुझे दोनों ओर खंदक ही खंदक दीख रहे थे।

पत्र को चुपके से मैंने उनकी आँखें बचाकर लिखा और स्वयं अपने हाथों उसे डाक में छोड़ा। छोड़ने के समय, आह, छोड़ने के समय घर को—मातृ-मंदिर की सजीव स्मृति आँखों के सामने नाच उठी। आह! वही घर था, जहाँ स्नेहशीला माँ ने मुझे चाची के हाथ सौंपा था। वही घर था जहाँ मरणासन्न चाची ने मुझे छोटी भाभी के हाथ सौंपा था। आह! छोटी भाभी! स्नेह की पूँजीभूत, पूत प्रतिमा! आह, वह पुरातन निवास! स्मृति की आगार-मंजूषा! वह बाल-नृत्य की रंगशाला! क्रीड़ा का वह कला-भवन! आह! सब-के-सब चले! उफ! असह्य है मेरे लिए! विश्व-नियंता पिता, मुझे सुबुद्धि प्रदान करे!

पत्र डाक में छोड़ दिया। दिन बीत चले! मैं भी भूल चला। स्नेहातिरेक से उषा का वह उत्फुल्ल मुख मंडल वह मदिरामयी आँखें, वह स्नेह-सुधा-सिंचित अधर प्रदेश!—मैं क्या कभी भुला सकता था। भले ही विश्व आँखों से दूर हो जाय-नहीं उषामय रूप में ही मैं विश्व को भी देखूँ।

भैया का पत्र प्राप्त हुआ। उफ! कितना कठोर! देवता का अभिशाप भी कदाचित् इतना कठोर न होगा। मैं अपलक दृष्टि से पत्र पढ़ गया। अंतिम शब्द—उफ वे शब्द कितने कठोर थे!…

"समझूंगा, सुशील नामक कोई व्यक्ति मेरे वंश में हुआ ही नहीं था !' मैं स्पंदनहीन था, आँखें दृष्टिहीन थीं—नीरव थीं—! हृदय वेदनामय था—आवेगपूर्ण था। मुख विवर्ण था, वाणी पंगु थी, बुद्धि जड़ थी—निर्जीव थी। कंटकाकीर्ण पथ को परिष्कृत कर देना कहने में जितना सरल है, कार्य रूप में उतना ही कठोर, उतना ही भयंकर और उतना ही विषादपूर्ण !

मेरे आनंद का प्रभात बीत चला, कठोर कर्त्तव्य का रौद्रमय· तापमय मध्याह्न आन पहुँचा। मैंने हृदय खोलकर उसका स्वागत किया। अग्नि के साथ क्रीड़ा ! हाँ, क्रीड़ा भी की, आहत भी हुआ—झुलसा भी ! पर सभी को सहन कर लिया—हाँ, उषा की एकांत-साधना मेरी सहायिका रही। वास्तव में नारि-हृदय शक्ति का अक्षय-भांडार और करुणा की शुभ्र सकरुण प्रतिमा है।

कठोरता के साथ कोमलता का जिस प्रकार एक गुप्त सामंजस्य है उसी प्रकार देवता और दानव के बीच भी ! एक सप्ताह के बाद स्नेह-मयी छोटी भाभी का भी पत्र मिला। पर, कितना करुण ? कितना सुकुमार ! सचमुच देवी हैं वे ! नहीं तो स्नेह की सरिता को फिर आज मैं कहाँ पाता ! कौन मेरी पूंजीभूत वेदना दूर कर सकती ! अहा ! पत्र में लिखा था—

"× × मुझसे पिंड छुड़ाकर भाग निकले थे इसलिए कि आप अपनी दारुण यंत्रणाओं में घुल-घुलकर जान देते देखें। आपने तो अपने ख्याल से स्नेह की तंत्री ढीली कर दी थी, पर कदाचित आप समर्थ न हो सके—समर्थ न हो सके। सुशील बाबू

हार माननी पड़ी न ! प्रकट रूप से पाप स्वीकार न करें—न सही; किंतु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मेरे प्रति जो स्नेह आपके अंतस्तल में एक समय फूट पड़ा था उसीकी विभूति प्रत्यक्ष दीख पड़ी है उषा के प्रति आपके हृदय में। इस उपलक्ष में आपको धन्यवाद और मेरी 'छोटी' को स्नेह-दान। भगवान करे—देवाधिदेव के समान विभूति प्राप्त हो, कौशलेंद्र के समान लोक-मर्यादा और कामदेव-सा सलौना पुत्र !

खेद है, आपके बड़े भाई ने आपका साथ छोड़ देने में ही अपनी वंश मर्य्यादा की रक्षा करना निश्चय किया है ! बड़ों की बड़ी बातें ! मैं और क्या कहूँ ! पर, इतना आप ध्यान रखेंगे कि बड़ों को शासन करने का अधिकार है और छोटे को शासित होने का।

घर पर बवंडर फैला है। सबके मुँह पर वही एक बात है। मैं सभी को देखती हूँ और हँस देती हूँ। कितना सकीर्ण विचार है उन लोगों का, कितनी संकीर्णता है इन हिन्दू कहलानेवाले देवता में ! पर, सुशील बाबू ! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, स्नेह की दृष्टि से देखती हूँ और अभिनंदनीय कृति पर फूली नहीं समाती !

यद्यपि तुम आज से मुझसे बहुत दूर हो फिर भी मेरे अंतस्तल से तुम नहीं दूर जासके हो। घर के नाते न सही, मानवता के नाते मुझे भुलाने की चेष्टा न करोगे—मैं बड़ी दुखी हूँगी।

और, बस ! एकबार अश्रुमणि माला तो अपने पाद-पद्मों पर चढ़ाने दो सुशील—मेरे छोटे !

तुम्हारी छोटी भाभी !

मेरा मस्तिष्क घात-प्रति-घातों का नीड़ बन गया था। एक ओर बड़े भैया के कठोर कर्कश स्वर पर मैं तिलमिला उठता था, दूसरी ओर छोटी भाभी की स्नेह-सिंचित वाणी पर मैं दो बूँद आँसू बहाए बिना नहीं रह सकता, इससे मेरी अंतरात्मा शांति प्राप्त करती। निस्संदेह मैं उनकी श्रद्धा करता था, इसके सिवा कृतज्ञताज्ञापन के लिए मेरे पास दूसरा साधन ही क्या था!

जो हो, इस घटना का मुझपर कुछ कम प्रभाव न पड़ा। यद्यपि भाभी के पत्र से संतोष अवश्य हुआ था फिर भी भैया के पत्र ने हृदय की आग प्रज्वलित कर दी, जिसका फल प्रकट हुए बिना न रहा। उषा ने मुझे भाँप लिया था और मैं भी उसकी करुणार्द्र आकृति को देखकर स्तंभित था। फिर भी प्रेम में शैथिल्य न था। वह मेरे लिए उसी तरह आकर्षक थी जिस तरह मैं उसके लिए। उषा प्राणों पर खेलकर मुझे प्रसन्न करना जानती थी।

× × × × ×

इस तरह हमलोगों के सामूहिक जीवन के कई साल निकल गए। एक दिन मैं कहीं बाहर से आया था, कमरे में उषा अपनी शय्या पर लेटी थी। मैंने ज्योंही कमरे में प्रवेश किया त्योंही वह मेरी आदर-संवर्द्धना के लिए उठने को उत्सुक हुई। पर, आलस्य-भार से वह उठ न सकी। मैं तबतक शय्या के बहुत निकट आ गया था। मैं उसके पीताभ मुख-मंडल पर अपूर्व श्री को देख मन-ही-मन आनंदित हो रहा था, पर वह मुझे टकटकी बाँधे देख

स्वयं लज्जा से झुकी-सी जा रही थी। मैंने लज्जा भंग करने के विचार से उसे बातों में फँसाना चाहा। इन दिनों मैं घर से बाहर बहुत कम रहता था। क्षण-क्षण हृदय यही चाहता कि उषा को आँखों से विलग न करूँ! मैं बोल उठा—जानती हो, उषा, मैं तुम्हें कितना कष्ट देता आ रहा हूँ! इसके लिए ....। वह बीच ही में बात काटकर बोल उठी—नहीं, कष्ट तो तुम्हें उठाना पड़ा है मेरे लिए, प्रियतम! जानती हूँ सब कुछ, किंतु कितने उदार हो तुम!

"उदार! और मैं! सो कैसे?"—मैंने उत्सुक होकर कहा।

"कहना पड़ेगा? तुमने अपने को वार दिया मुझपर, अपने घर-बार को छोड़ा, मुझे जैसी अरक्षणीया को हृदय में स्थान दिया, मेरे कुल-शील पर तुमने दृष्टि तक न दी! और भी उदाहरण खोजते हो, हृदयेश।"

"यह उदारता नहीं—स्वार्थ है मेरा! लोक तो यही कहता है कि धन और लावण्य पर ....।"

"नहीं। धन और लावण्य क्या तुम्हारे व्यक्तित्व के मूल्य से अधिक मूल्य रखता है? कभी नहीं। तुम जैसे गुणज्ञ पर तो विश्व की विभूति न्योछावर की जा सकती है। फिर मेरा लावण्य क्या और मेरी नगण्य संपत्ति का अस्तित्व ही क्या?"

"नहीं, मैं इसे मानने को तैयार नहीं। अच्छा, जाने दो। मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ।"

"वह क्या?"—उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखा।

"यही कि हम लोगों ने विषय-सुख को देख लिया। सांसारिक आनंद की अनुभूति प्राप्त हो चुकी। पर, यह आनन्द क्षणिक है—कुछ स्थायी नहीं। अब कुछ स्थायी आनन्द का पथ देखना चाहिए।"

"उद्देश्य महत् है! पर, क्या करना चाहते हो?"

"तुम्हारी गोद शीघ्र ही संतान से सुशोभित होगी—! और यही दांपत्य-जीवन के सुखों की चरम सीमा है। इसके बाद गार्हस्थ-जीवन का अंत हो जाता है।"

"हाँ, सच है; फिर······।"

"यह कि कुछ महान कार्य किया जाय। कुछ देश-सेवा हो।"

"हृदय से अभिनंदन करती हूँ। मैं तो कब से न यह चाह रही थी; पर, तुमने ही तो मुझे विलास की वस्तु·······।"

"नहीं; अब ऐसा न समझूँगा। मेरा विचार है, संतान यदि पुत्र हो तो उसे एक आदर्श संतान बनाया जाय। उसपर विषय-वासना न लादकर उसे स्वावलंबी बनाया जाय। और—और यह संपत्ति देश के नाम पर, जनता के लाभार्थ अर्पित की जाय।"

"ओह! इससे बढ़कर आनंद की बात और क्या होगी? मैं स्वागत करता हूँ उस मंगलमय दिवस का!"

"हाँ, उस दिवस का जब कि दो आत्माओं का संमिश्रण रूप एक नन्हा-सा शिशु चहक उठेगा तुम्हारी गोद में। जानती हो, प्रिये, उसका चहकना कितना संगीतमय होगा? मैं चाहता हूँ उसका मुख-मंडल हो तुम्हारे अनुकूल और·····।"

"और क्या ? साहस, बल-विक्रम और गुण हो अपने पिता के अनुकूल।"

मैंने प्रसन्नता के मारे स्नेहातिरेक से उसके आलस्य-पूर्ण नेत्रों को चूम लिया।

कहना न होगा—दोनों के दृष्टि-कोण पर एक नूतन चित्र लटक रहा था। कितना शुभ्र था उसका मुख-मंडल—ठीक उषा-सा गोल-मटोल, उसकी-सी नाक, आँख, मुख, कान! कितना सलोना था वह। दोनों विस्मय-विमुग्ध होकर काल्पनिक बाल-छवि की उस मधुर कल्पना में विभोर से रहे! प्रेम का यह प्रत्यक्ष दर्शन क्या सभी को प्राप्त हो सकता है ? वास्तव में उषा ने मेरे जीवन में जान डाल दी थी! यह था ? मणि-कांचन का संयोग।

२९

दो वर्ष और निकल गए। अब जीवन-नाटक का दूसरा पर्दा उठना चाहता था। मेरे सुखानुभव का सरस वसंत बीत चला और उसके स्थान पर ग्रीष्म की उत्तप्त ज्वाला मेरे अंतर्प्रदेश की सुकुमार भावना-लता को भस्मीभूत करने लगी। मेरी सुषुप्त वेदना ने करवटें बदलीं। अब से सारी भोग्य वस्तुएँ मानो काट खाने को दौड़ने लगीं। घड़ी-भर पहले उषा की जिन भाव-भंगियों पर मैं मनोमुग्ध था; वे निस्सार, निरानंद, और कपटपूर्ण दीख पड़ने लगीं। अच्छी-से-अच्छी वांछित वस्तुएँ भी एक दिन मन से उतर ही जाती हैं। जीवन कुछ-न-कुछ अभिनवत्व चाहता है! मेरा हृदय भी

उसी अभिनवत्व के लिए प्रधावित हो चला ! मैंने ख्याल तक न किया कि आखिर मैं किस पथ पर प्रधावित होने को तैयार हूँ !—वह सुखद होगा वा दुःखद ! उस समय मुझे ऐसा सोचने का अवसर ही कहाँ था ? मैं दूसरे ही बहाव में बह चला। संभवतः, उषा के हृदय में भी मुझ-जैसा तूफान मचा हो। पर, उसका हृदय गंभीर था—सागर-सा गंभीर ! फिर उसकी बाहरी आकृति देखकर उसके अंतस्तल का पता ही कौन लगा सकता है।

मैं सोचने लगा अपने पुराने कृत्य पर। उफ ! कैसा पागल था मैं उस समय। मैंने चपलतावश क्या-से-क्या कर डाला था ! उषा कितनी मायाविनी है। कितनी विषय-विलासिनी ;··· कैसा विषाक्त प्रेम है उसका। यदि ऐसा न होता तो मैं क्यों अपना घर उजाड़कर इसके घर पड़ा रहता। उसके विलास की उपासना करता। भैया ने कितने कठोर वचन कहे थे। उन्हें इसी में शोभा थी। उन्होंने अपना सच्चा अभिभावकत्व ही दर्शाया था ! मैंने भूल की है और मैंने अपने वंश की बहुत अंशों में, मिट्टी पलीद की है। मैंने पूर्वजों की कीर्ति-लता पर कलंक का टीका लगाकर सदा के लिए उसे अशोभन बना दिया है। क्या मेरा कर्त्तव्य यह नहीं कि मैं उन्हें मनाता, अपनी करतूत पर उनके सामने पश्चात्ताप करता ? पर, मैंने ऐसा नहीं किया। यह मेरे हृदय की संकीर्णता थी—नहीं, अवहेलना थी कि मैं अपनी भूल के लिए उनके समक्ष क्षमा-याचना तक न कर सका। दर्शन तो दूर रहा, कभी दोहराकर उन्हें पत्र तक न दे सका। उसी का फल है कि आज मैं शांति से

दूर जा पड़ा हूँ। अब तो मेरा हृदय सहारा का मरु-मैदान बन गया था उसमें वह कवित्व का स्फुरण कहाँ ? कहाँ गई वह छंदमयी मादकता। नशा उतर गया था—उसकी खुमारी तक जाती रही थी। होश आने पर देखा—वास्तव में मानवता से मैं कितनी दूर पीछे पड़ गया हूँ। मुझसे एक पशु भी अच्छा! मैं भावावेश में रो पड़ा। हृदय का बाँध टूट पड़ा था। आँखों से अंधकार का पर्दा हट गया था! कुछ दिन पहले जिन पूज्य बड़े भैया को मैंने अवहेलना की दृष्टि से देखा था, वही आज श्रद्धामय दीख पड़ने लगे। जिन बड़ी भाभी को मैं कठोरता की मूर्त्ति समझता था आज उन्हीं के प्रति मेरी श्रद्धा मंदाकिनी फूट चली। जिन छोटी भाभी को मैंने अपने व्यवहार से अपमानित किया था और जिन्होंने उसपर जरा भी ध्यान न देकर मुझे सदैव उठाने की कोशिश की—उन्हीं को आज मैं इस तरह भुला बैठा। अहा, यह क्षुद्र हृदय! मैं भावावेश में न जाने क्या क्या सोचता रहा! अपनी भूलों पर मैं चिंतित-व्यथित-संक्षुब्ध और विक्षिप्त हो रहा था। एक बार बड़े भैया और परिवार की क्षमा-याचना के लिए मेरा हृदय चंचल हो उठा। मैं अपने को सँभाल न सका। एक बार उषा के कमरे में आकर देखा—उषा—मायाविनी उषा प्रगाढ़ निद्रा में अचेत पड़ी है। उसके लंबे-चमकीले केश छितराए पड़े हैं और मुख की शोभा और भी आकर्षक हो उठी है। उसके वस्त्र शिथिल पड़े हैं और उसके वक्षस्थल से संलग्न नवजात शिशु स्नेह-सुधा का पान कर रहा है। मैंने उसकी ओर एक बार ललचाई आँखों से

देखा और दूसरी बार सुकुमार शिशु की ओर ! मुझसे रहा न गया। मैंने चोर की नाईं उषा के कपोल को चूम लिया और फिर बच्चे को ! और जी को कड़ाकर, छाती पर पत्थर रख, बिना कुछ कहे-सुने अंधकार-मयी रजनी को फाड़ता हुआ स्टेशन की ओर चल पड़ा।

यथासमय मैंने गाँव में प्रवेश किया। हृदय खिन्न, अशांत और लज्जामय हो रहा था। किस तरह बड़े भैया से मिल सकूँगा—वे किस तरह मुझे देखते ही आग बरसाने लगेंगे ! किस तरह छोटी भाभी मुझे आलुलायित दृष्टि से देखकर हृदय से लगाएँगी—मेरे साथ सहानुभूति दिखलाएँगी ! मैं इन भावनाओं से अस्थिर हो उठा और आगत आशंका से भयभीत। इच्छा न हुई कि एक कदम आगे बढ़ूँ। पर, कर्त्तव्यानुरोध था सामने ! आखिर, घर पहुँच ही गया। वहाँ पहुँचकर देखा—न श्री है, न शोभा है, न जन-समागम और न चहल-पहल ही। मैं आगे बढ़ चला—भीतर आकर देखा—इतनी बड़ी विशाल चहारदिवारी के भीतर प्रकोष्ठ पर एकाकिनी तपस्विनी-सी युवती पड़ी है। अहा ! गैरिक वस्त्र में उसका सहज सुंदर लावण्य मानो फूटा पड़ता था ; पर, वह विष-सा घातक न था। था उसमें करुणा, शांति, सौम्यता और पावनता का संगम। मैं श्रद्धावनत मस्तक हो उसकी ओर बढ़ गया पर सामने जाते-जाते ही ठिठक-सा रहा। उसने मेरी ओर देखा, वह लपककर मेरी ओर बढ़ चली और कुछ ही क्षण में मुझे विस्मित-विमुग्ध कर, अपने स्थान की ओर ले चली। वहाँ कई आसन बिछे थे, एक पर वह बैठ गई और दूसरे पर मुझसे बैठने का संकेत

किया। तपस्विनी अभी तक मेरे लिए एक रहस्यमयी थी!

उसने साधारण कुशल-समाचार पूछने के बाद कहा—संसार अनित्य है और यहाँ की सभी बातों में वही अनित्यता है। परिवर्त्तन संसार का नियम है—और बहुत ठीक है। यदि यह परिवर्त्तन न होता तो संसार एक उपयोग की वस्तु न होकर विभिषिकामय ही हो गया होता। आप बहुत उद्विग्न-से दीख रहे हैं। शायद बहुत दिनों पर आने के कारण इसके रंग-रूप में विभिन्नता देख-कर आप विस्मित और संक्षुब्ध हो रहे हैं। संभव है, आप मुझे पहचान भी न रहे हों? ठीक है न! क्यों, पहचानते हैं आप?

मैं सचमुच संदेह में पड़ गया था, किंतु उसी क्षण उन्हें पहचान लिया और बोला—अपराध क्षमा हो। मैं आपको पहचान न सका था, पर अब तो पहचान लिया अच्छी तरह भाभी!—आप मेरी मँझली भाभी हैं। पर, इस रूप में क्यों?

छाती धड़क उठी उत्तर सुनने को। आशंका से उनकी ओर देखने का साहस तक न हो रहा था। पर, मंझली भाभी बोल उठीं—सुनेंगे, सुशील बाबू।

"हाँ-हाँ, भाभी!"—मैं आतुरतावश बोल उठा।

वे हँस पड़ीं, फिर कुछ क्षण ठहरकर बोलीं—सुनकर क्या करेंगे हम अभागों की बात! आप तो बड़े आदमी······नहीं, भगवान मंगल करे। आप और भी शक्ति-संपन्न हों। पर, सुशील बाबू, सुनकर क्या कीजिएगा?

"यदि कष्ट न हो तो सुना दें, भाभी! आप इस रूप में क्यों?"

"मुझे !"—वे हँसकर बोलीं, "मुझे इस रूप में देखकर आप खिन्न-से हो रहे हैं ? क्यों सुशील बाबू ! क्यों-क्यों मैं अच्छी नहीं दीख रही हूँ। मैं आकर्षक नहीं दीख पड़ती हूँ, सुशील बाबू !"

"हाँ !"—मैंने सकुचाते हुए कहा।

फिर क्या सुनना चाहते हैं ? जानते हैं, आपके भाई साहब इस संसार में न रहे और न आपका गिरीश ही रहा। आप दुखी न हों, सुशील बाबू ! मुझे उन दोनों के निधन पर तो कभी दुख नहीं होता किंतु पापिन आपकी बड़ी भाभी पर—नहीं, वे मेरी पूजनीया दीदी हैं, सुशील बाबू ! उनपर मैं रंज क्यों होने लगी ! आखिर, उन दोनों को संसार से जाना था—चले गए। फिर कैसे और क्यों ? इसका उत्तर ही और क्या हो सकता है ! उत्तर तो स्पष्ट है—जिसकी यहाँ चाहना है उसकी वहाँ चाहना है।

मैं सच कहता हूँ—मैं काँप उठा, सारा शरीर रोमांचित हो गया। आँखों से तप्त उच्छ्वास के साथ आँसू बहकर ढलककर गिर गए। और मैं कातर-कंठ से बोल उठा—तो क्या मँझले भैया और मेरे गिरू को किसी ने मार डाला ? भाभी !

"गिरू तो बड़ी दीदी का खिलौना था न ! भाई सुशील ! इसीलिए तो उन्होंने उसे मुक्त कर दिया इस संसार से !"

"कैसे भाभी ! क्या फिर उन्होंने विष········ !"

वे विद्रुप की हँसी हँसकर बोलीं—"विष कहते हो, भाई मेरे ! नहीं—वह तो सुधा थी; नहीं तो उसका नाम अभी तक अमर कैसे रहता !"

"और, मँझले भैया !"

"आह ! उनकी मत पूछो ! वे पुत्र-शोक से अस्थिर हो चले थे—उन्हें यह घर खाए डालता था। मैंने लाख समझाने की चेष्टा की, पर उनका शोक कम न हुआ। उन्होंने मेरी एक न सुनी। वे तीर्थ-यात्रा को चले गए और सुनकर दुख होगा—सुशील, बदरीनाथ की चढ़ाई में उनके पाँव पर्वत-शृंग से फिसल पड़े और वहीं वे शांत हो गए। कुछ दिन हुए—उनके एक मित्र ने यहाँ सूचना दी। मैं क्या करती। अंतिम क्रिया की।

मैं सिसक-सिसककर रो पड़ा। उन्होंने आँसू पोंछते हुए बड़े धैर्य के साथ कहा—उनकी तो अच्छी ही गति हुई, भाई सुशील ! यही तो संसार का नियम है, फिर चिंता की बात क्या ! हाँ, इसके बाद जानते हो, क्या हुआ ?

"मैं कैसे जानूँ, भाभी ! मैं अपने को सँभालते हुए बोल उठा।

आपकी बड़ी भाभी साहिबा ने, इसी संपत्ति के चलते गिरू के भी प्राण लिए। आह, मेरा वह खिलौना आज कहाँ होगा ? जाने दो उसकी बात ! हाँ इसके पहले भी बड़ी-बड़ी बातें हो चुकी थीं—उन्हें सुनकर क्या करोगे, भाई ! आखिर, उनकी कामुक प्रवृत्ति ....। जो हो, लोकापवाद मिटाने को, नहीं अपनी कलंक-कहानी मिटाने को वह यहाँ से भाग निकलीं। कुछ दिनों के बाद व्यथित होकर बड़े भी चले गए। सुना है—वे पहाड़ की तराई में कहीं एकांत में बैठ ईश्वर के भजन में लगे हैं। छोटी भी इधर कुछ दिनों से छोटे भैया के साथ

ही रहती है। पर, मैं इस घर को छोड़कर कहाँ जाऊँ! यही तो मेरे लिए स्वर्ग है! यही है मेरा उपासना-मंदिर—मेरे देवता का स्वर्गोपम स्थल! यहीं पर उनकी आत्मा चक्कर लगाती है और तृषित नेत्रों से मुझे संतुष्ट करती है। मैं इसीलिए यहाँ पड़ी हूँ और सानंद हूँ। पर, एक उत्कंठा है मेरी, सुशील! पूरी करोगे इसे ?

"हाँ, भाभी, पूरी करूँगा। शक्ति दो—साहस दो—वर दो। आपकी आज्ञा पूरी करूँ।

एक बार बड़ी दीदी की खोज करो। मुझे विश्वास है, वे अभी तक जीवित होंगी। अब उनका हृदय पश्चात्ताप और वेदना से परिष्कृत हो गया होगा। क्या इसके लिए प्रयत्न करोगे, भाई सुशील ?

"अवश्य!"—और चलने को मैं उद्यत हो गया। भाभी ने मुझे संबोधित करके कहा—हाँ, सुशील, क्या मुझे एक बार छोटी को न दिखाओगे ? मैं उससे प्रेम करती हूँ। ज्योति भी कहती थी—'सुशील बाबू कितने कठोर हो गए ? आखिर उन्होंने हमलोगों को भुला ही दिया।' ज्योति (छोटी भाभी) कितनी दयामयी है, कितनी उदारता है उसके हृदय में। मैं उसकी कितनी श्रद्धा करती हूँ—सुशील! तुम्हारे नाम पर तो वह रोते-रोते अपने शरीर को एक प्रकार से बिगाड़ चुकी थी। रात-दिन आँसू! जहाँ बैठीं, वहीं तुम्हारी ही चिंता! तुम्हारी ही बात! यदि छोटे उसे यहाँ से न ले जाते तो क्या पता कि वह जीवित बचती वा

नहीं। अब भी तो पता नहीं है कि वह आजकल कैसी है ? एक बार उससे भी तो मिलना ! पर, पता नहीं, सुना था—छोटे की कहीं पच्छिम की ओर बदली हो गई है, पर कहाँ ?—मुझे कुछ ठीक पता नहीं है।

बोलते-बोलते अचानक वे रुक-सी गईं। देखा—उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। मैं भी उद्वेग वश रो पड़ा। मानो, करुणा दो भिन्न रूप लिए प्रत्यक्ष दीख रही है। पर, कुछ ही देर के बाद मैं सँभलकर बोल उठा—

"भाभी, बीती बातों पर आँसू बहाने से लाभ ही क्या ? मैंने छोटी भाभी का अपमान किया था, इसलिए साहस नहीं होता किस तरह उनसे मिलकर क्षमा-प्रार्थना करूँ ! पर जिस तरह होगा—एक बार उनसे मिलने की चेष्टा अवश्य करूँगा। उनका हृदय बड़ा ही दयाशील है, अवश्य वे मुझे अपने क्रोण में स्थान देंगी। मैंने बड़ी भूल की थी भाभी ! यौवन की मदिरा थी आँखों में इसलिए हिताहित का विचार छोड़ मैंने उषा को अपनाया। वह देखने की वस्तु नहीं, भाभी !

"नहीं। तुम्हें ऐसा कहने का अधिकार नहीं, भाई सुशील ! जानते हो, स्त्रियों का हृदय कितना उदार बनाया है भगवान ने ! वह बड़ी भाग्यवती है ! मैं उसके सौभाग्य-भरे मुख-मंडल को अवश्य देखूँगी। तुम्हें तो दिखाना ही होगा, सुशील ! कहो, क्या कहते हो ? दिखाओगे न !"

"पर, पहले तो इन-सबों की खोज कर लूँ, भाभी !"

"आशीर्वाद देती हूँ, भाई, एक बार इस उजड़े चमन को फिर से हरा-भरा कर दो। आखिर, पूर्वजों के धरोहर को इस तरह विनष्ट न होने दो!

"यथाशक्ति चेष्टा करूँगा।"—कहकर मैंने उनके चरण-रज को सिर आँखों से लगाया, एक बार फिर से सारे भवन की ओर दृष्टि फेरी और हृदय पर वेदना का बोझ लादकर बाहर की ओर चल पड़ा।

आह! मेरे घर की यह दुरवस्था होगी? हृदय पर जो अभी आघात लगा था, वह कुछ ऐसा हल्का न था कि बातों में ही उसे भूल सकता। मैं एक-एक कर अतीत की सारी घटनाओं पर विचार करता। एक ओर बड़ी भाभी की नृशंसता, क्रूरता; बड़े भैया की उदासीनता; मँझली भाभी की तन्मयता, विशाल-हृदयता—क्षमाशीलता! और छोटी भाभी की कर्त्तव्य-परायणता, एकांत सहृदयता आदि बातें मेरे मस्तिष्क में उथल-पुथल मचाने लगीं। कभी मैं बड़ी भाभी की उच्छृंखलता, नृशंसता पर विचार कर मुष्टि-बद्ध हो जाता। भवें तन जातीं, मैं क्रोध से उन्मत्त हो जाता। कभी मेरे हृदय में दया की सरिता प्रवाहित होने लगती, कभी मैं स्नेह-सुधा-सरोवर में संतरण करने लग जाता! हृदय भावनाओं का नीड़ हो रहा था। मैं अपनी धुन में मस्त होकर चल रहा था—आगे बढ़ता जा रहा था; पर, कहाँ जा रहा था—किधर जा रहा था—कुछ पता नहीं। पटना जाने की ओर प्रवृत्ति ही न थी। सोचता था—वहाँ जाकर फिर भी माया-ममता में

वद्ध हो जाऊँगा। उषा मुझे फिर से प्रभावित कर लेगी। उसकी चाल में, उसकी मुस्किराहट में उसकी वाणी में न जाने कौन-सा जादू है! फिर हमारे उजड़े घर को कौन बसावेगा? कौन हमारे दुर्दिन में अपने पसीने-पसीने बहावेगा? उषा—मायाविनी उषा! तुमने मेरा सर्वनाश किया। तुम्हारे कारण आज मैं अपने मातृ-मंदिर को श्मशानवत् देख रहा हूँ। फिर भी उषा को क्या गरज पड़ी है कि हमारा घर सुधरे! वह तो बड़े की बेटी है, स्वयं विशाल संपत्ति की अधिकारिणी है। क्यों उसकी दृष्टि हमारे झोपड़े पर जाने लगी। नहीं-नहीं; वह इतनी कठोर नहीं है। फिर भी कर्त्तव्यानुरोध के सामने मैं वहाँ जा नहीं सकता।

मैं पथ-भ्रष्ट—दिशा-भ्रष्ट होकर एक ओर चल पड़ा। आशा थी—कठोर तकलीफों के बाद मुराद अवश्य पूरी होगी। आखिर, एक तपस्विनी का आशीर्वाद है न! मैं ईश्वर पर भरोसा रख बड़ी भाभी के अनुसंधान मे प्रवृत्त हुआ।

३०

मैंने उषा के प्रति बड़ा अन्याय किया था। अपनी निर्मूल धारणाओं के आधार पर मैंने उसके साथ दुर्व्यवहार किया था—उसे कठोर-से-कठोर बातें कही थीं, उसकी ओर से अपनी दृष्टि फेर ली थी और सबसे अधिक, उसे उसके अपने घर में प्रेम की वंदिनी बनाकर, उसके सारे विलास-वैभव को लूटकर अनेक

यंत्रणाओं का शिकार बना दिया था। आखिर, उसे कौन से अपराध पर इतना गुरुतर दंड मिला था? आह! अवलंब-हीना उषा, अनाश्रित उषा मुझे कितना निष्ठुर समझती होगी। अहा! बच्चे का—शिशु-पुत्र का—वह सहास्य-मुख मंडल! वह नयन-रंजन आकृति!—क्या कभी भुलाने की वस्तु है! आखिर उस नवजात कुमार का कौन सा दोष था! उस सुकुमार नारि-हृदय के साथ मैंने जैसी कुछ कठोरता का व्यवहार किया था, उससे मेरा हृदय आप-से-आप विद्ध होने लगा। वह उस दिन घर पर मुझे न पाकर क्या-क्या सोचती होगी? संध्या तक—एक-दो दिन तक—तो उसे आशा रही होगी कि कहीं किसी जरूरी काम से लौट आता हूँगा। वह किस उत्सुकता के साथ मेरा पथ देखती होगी! पर, अंत में वह कितनी निराश हुई होगी, कितनी व्यथित हुई होगी मुझे न पाकर। अब तो उसे निश्चय ही विश्वास हो गया होगा कि मुझे छोड़कर कहीं भाग निकले! उफ, कितनी मर्माहत वेदना हुई होगी, कितने आघात पड़े होंगे उसके भावुक सुकुमार हृदय पर! किस तरह रो-रोकर अपना दिन बिताती होगी वह! अहा! नवजात पुत्र!—नवजात पुत्र को पाकर माता का हृदय आनंद से कितना खिल उठता है! उस दिन प्रगाढ़ निद्रा में भी उषा के सौम्य मुख-मंडल पर कितनी मीठी मुस्कान थी। अहा, क्या ही स्वर्गोपम छटा! वैसी छटा तो वास्तव में मैंने कहीं भी नहीं देखी। यह स्वर्गोपम छटा है वस्तुतः मातृ-हृदय की ही!, माता के पुनीत वक्षस्थल में अपने संतान के प्रति कितनी सुकुमार वेदना रहती

है ! पर, अभागिनी उषा क्या समझेगी ? क्या समझती होगी अपने शिशु कुमार के प्रति ! भगवान न करे, यदि वह यह समझती हो कि विरह-यंत्रणाओं में निस्सहाया छोड़ने का कारण एक मात्र वह नवजात शिशु ही है—तो, उसे उस निर्दोष बच्चे के प्रति करुणा के बदले कितना रोष होता होगा ? आह ! कहीं वह उसकी उपेक्षा भी न करती हो। उस नवजात शिशु का कौन सा दोष……। मैं स्नेहातिरेक से व्याकुल हो उठा किंतु उषा आज मुझसे बहुत दूर थी। मैं भटककर न जाने कैसे भयंकर स्थान में पहुँच गया था।

फिर से हृदय में दूसरा झोंका उठा। मेरा हृदय विषाद से खिन्न होने के कारण बड़ा नीरस हो चला था। अब वह मधुमयी तान सुनने को मेरे कान आलुलायित न थे। आँखें उसकी सौंदर्य-राशि पर मुग्ध होने को न थीं। हृदय मिलनोत्कंठा के लिए अधीर न था। वास्तव में, मैं वज्र-सा कठोर, पाषाण-सा जड़ और कामुक-सा विवेक-हीन हो रहा था। मुझे उषा पर करुणा के बदले घृणा होने लगी। होने लगी इसलिए कि कहीं दूध का असर उसकी अंतरात्मा में भी न हो। मुझे उसके सद्‌गुणों में उसका स्वांग और नम्रता में उसका व्यंग दीख रहा था। उषा रूपवती है, विदुषी है, हजार उसमें श्री है, शोभा है, संपन्नता है। फिर भी वह मेरे नजरों से गिर गई है, वह मेरी कोई नहीं है और न मैं उसका कोई हूँ।

मैं मातृ-भूमि को किसी समय अपनी आँखों से श्री-संपन्न देख चुका था, और उसी को अभी श्री-हीन देख आया था—यही मेरे लिए एक मात्र चिंता का कारण बन गया। मैं फिर

अस्थिर हो चला। जब तक मैं फिर से अपने घर को हरा-भरा न कर लूँ, तब तक चैन कहाँ! हाँ, सबसे पहले भाभी की खोज करनी होगी और उसके बाद बड़े भैया की। मैं इसके लिए बेचैन होकर अपने पथ पर बढ़ चला।

मैंने, न मालूम, कितनी जगहों की खाक छान डाली, बड़े-बड़े तीर्थ-स्थानों में, गिरि-कंदराओं, मठों-मंदिरों, सराय और धर्मशालाओं में चक्कर लगाया फिर भी उनका पता न चला। पता चलता कैसे? वे (बड़े भैया) कहाँ गए, किधर गए, किस उद्देश्य से गए—कुछ भी जानता होता तब न। तन्मयता थी अवश्य मुझमें, फिर भी अज्ञात पथ का आविष्कार कर लेना मेरे लिए क्या, किसी के लिए भी सुलभ नहीं हो सकता—जब तक संयोग न लग जाय। मैंने निराधार चक्कर लगाया था इसलिए सफलता तो कोसों दूर रही, हाँ देश-भ्रमण से, फिर भी कुछ कम उपकार न हुआ। वास्तव में मैंने चक्कर लगाते-लगाते संसार का जो कुछ अनुभव कर पाया था वह अवश्य ही मेरे लिए संतोष का विषय था। फिर भी उद्देश्य की असफलता पर मैं चिंता से चूर, कष्टों से क्लांत और क्षोभ से जर्जर हो गया था।

असफल जीवन के पाँच वर्ष बात-की-बात में निकल गए। इन लंबी घड़ियों को कितने तप्त अश्रुओं से सींचा था, कितनी सर्द आहें क्षितिज से जाकर टकराई थीं—इसका पता भला दूसरे को क्या हो! इन दिनों रात को रात और दिन को दिन नहीं समझा। यहाँ तक कि खाना-पीना, सोना-आराम करना तो जीवन से बहुत

दूर जा पड़ा था। फिर भी मैं कैसे कह सकता हूँ कि सर्वथा मैंने इसे त्याग ही दिया था! जो हो, कष्टों-आपदाओं के कारण मेरी आकृति में बहुत बड़ा परिवर्त्तन हो चुका था। अब मैं वैसा हृष्ट-पुष्ट, सुंदर सुगठित न रह गया था। मेरे बाल खिचड़ी हो रहे थे, वर्षों से उन्हें मैं साफ तक न कर सका था। शरीर कंकाल बन रहा था। इस समय मुझे कोई परिचित व्यक्ति प्रयत्न करने पर भी पहचान नहीं सकता। अब शक्ति-हीन, साहस और संबल-हीन, निरुद्देश्य, जीवन-हीन कंकाल को लेकर मैं हिल-डोल तक न सकता! वास्तव में मैं विक्षिप्त था—पागल था! अब न तो मेरी दृष्टि में छोटी भाभी ही थीं और न उषा ही। हाँ, विक्षिप्त दशा में भी भैया के अभिशाप को मैं मूर्तिवत् अपने पीछे पड़ा हुआ देख रहा था। आह! कितना भयंकर, कितना रौद्ररूप था उसका! मैं उस आतंक से भयभीत होकर अंधकार में भाग चला था। कुछ दूर चलने पर आगे एक शिला-खंड से मैं भयंकर रूप से टकरा गया। सिर पर भयानक आघात लगा। सिर फूट गया, रक्त की धारा फूट निकली। मैं संज्ञाहीन होकर वहीं लंबा पड़ गया। कई दिन के बाद होश आने पर देखा—मैं एक अस्पताल में पड़ा हूँ। चेतना-हीन हूँ, पर जब कभी होश आता, तब मैं अपने सामने एक देवी मानों साक्षात् अन्नपूर्णा हो, सामने बैठी देखता। हृदय भक्ति से भर आता और मैं एकटक उसकी ओर देखने लग जाता। मैं मुमूर्षु अवस्था में न जाने क्या-क्या अनाप-सनाप बक गया था जिसका मुझे स्मरण तो नहीं है, पर जब मैं उनपर विचार

करने लगता तो मुझे बोध होता कि मैं बड़े भैया का स्मरण करता था और करता था स्नेह-शीला छोटी भाभी का। मैं नहीं कह सकता—उन दो महान आत्माओं के साथ मेरी कब की श्रद्धा अपना अस्तित्व बनाए हुए थी। उफ्!

जब मैं अच्छी तरह स्वस्थ हो गया तब मैंने एक दिन भक्तिपूर्वक उन देवी-स्वरूपा रमणी का समाचार जानना चाहा। उन्होंने स्वर्गीय मंद मुस्कान के साथ मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया—"यह एक 'मातृ-मंदिर'-संलग्न दातव्य चिकित्सालय है जिसकी व्यवस्थापिका हैं वह श्रीमती जी और उसकी संस्थापिका हैं श्रीमती उषा रानी देवी!"

"उषा रानी देवी!" .....कौन हैं वे!—" मैंने बड़ी उत्कंठा के साथ किंतु विषादपूर्ण शब्दों में उनसे पूछा।

"वही श्रीमती उषा रानी, जिन्हे उनका पति परित्याग कर कहीं भाग निकला है।"

मेरी आँखों से वर्षों की संचित अश्रुधारा अबाधगति से बह निकली और उसके साथ मेरे मन का दुख-शोक, समवेदना और व्याकुलता नृत्य करने लगी।

"और आप?"......"आप कौन हैं?" .....मैंने पूछा।

"मुझे लोग ज्योतिर्मयी के नाम से पुकारते हैं और थी मैं किसी दिन किसी की स्नेहमयी छोटी भाभी!"

"कौन—कौन, भाभी! तुम यहाँ कैसे? क्यों ताना मार रही हो! मरे को और न मारो!"

मैं रो पड़ा। और रोते-रोते ही बिछावन पर मूर्छित होकर गिर पड़ा। मुझे अपने आप तक का ज्ञान न था। पर, मैं स्वप्न देख रहा था—यह अद्भुत मिलन कैसा ? उषा ने किस तरह छोटी भाभी का पता लगाया ! और, किस तरह उन्होंने उषा को अंगीकार किया। किस तरह उषा ने सारी संपत्ति 'मातृ-मंदिर' को उत्सर्ग कर दी ? और—और, न जाने क्या।

मैं कुछ सचेत हुआ, पर बड़ी देर के बाद। इसी समय तपस्विनी-वेश में एक रमणी आती दीख पड़ी। यह क्या ? क्या यह उषा तो नहीं है ! मैं तकिए में मुँह गड़ाकर पड़ रहा।

छोटी भाभी ने मेरी अवस्था देखी और वे मुझे संबोधित कर बोल उठीं—सुशील बाबू ! मैंने जिस दृष्टि-कोण से, जिस विचार से आपके साथ ढिठाई की है, वह आपकी समझ में रहस्यमय अवश्य होगी। किंतु मेरा उद्देश्य आपके जीवन को बनाना था। उषा साक्षात् लक्ष्मी है, और उसी का पुण्य-प्रताप है कि आज यह विराट आयोजन आप अपने सामने देख रहे हैं।

इसी समय उषा मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। उसने मेरी चरण-धूलि अपने सिर पर लगाई और बड़े विनम्र स्वर में बोल उठी—यह मेरी दीदी (छोटी भाभी) का ही पुण्य-प्रभाव है, प्रियतम !—मेरा अपनापन कुछ नहीं। यदि उन्होंने मुझे इस अवस्था में परिणत न किया होता तो मैं नहीं कह सकती—आज जो आप इस वेश में देख रहे हैं, कभी नहीं देख सकते, संभव है, मैं आज·· ·····।

आह ! उस समय का मिलन कितना शाश्वत, कितना पवित्र था ! और कितना स्वर्गीय !

उसी समय एक और घटना घटी। एक परिचारिका ने छोटी भाभी से आकर कहा—पागलखाने को जाकर देखिए—अभी एक पगली आई है, विकट उसका वेश है और भयंकर है उसका अट्टहास।

वे-सब चल पड़ने को तैयार हुईं। मैंने भी जाने का अपना अभिप्राय कह सुनाया। और मैं भी उन्हीं लोगों के साथ उठकर किसी तरह चल पड़ा।

पागलखाने में जाकर देखता हूँ तो वहाँ का दृश्य और भी करुणा-जनक दीख पड़ता है। वह पगली और कोई न थी—थी हमारी बड़ी भाभी ! आह ! उनका यहाँ तक पतन ! वे अपने मुख से, विक्षिप्त दशा में, जैसा अपना बखान कर रही थीं, वह क्या जिह्वा पर कोई ला सकता है !

मैं निधड़क उनके सामने जाकर खड़ा हो गया, स्नेह-सिंचित स्वर में उनसे पूछा—मुझे पहचानती हो ?

वह मेरी ओर लाल-लाल आँखें किए बड़ी देर तक देखती रहीं, बड़ी देर तक देखा, उसके बाद झपटकर मुझसे लिपट गईं और फूट-फूटकर रोने लगीं, उनके स्नेह गदगद स्वर से और कुछ बोला न गया। वे केवल इतना ही बोल सकीं—मैंने जैसा किया, सुशील, उसका फल मुझे हाथों-हाथ मिल गया। भगवान् के नाम पर मुझे क्षमा करो। मैं अपनी करनी का फल पा चुकी—खूब पा

चुकी । आह ! मैंने कालिख लगाई अपने वंश में, घर को तहस-नहस कर उजाड़ दिया । बच्चा गिरू को''''''''उफ़, मुझसे बोला न जायगा क्षमा करो—क्षमा करो, भाई !

वह चिता से चुलकर नीचे घुलट गई ! कैसी थी वह दर्दनाक घटना ! मैंने कहा—उन बातों से अब लाभ क्या, भाभी ! भूल जाओ सब कुछ ! वह टकटकी लगाकर मेरी ओर देखने लगीं । उनकी आँखों में कितनी करुणा थी !

इसी समय दूसरी परिचारिका आई । उसकी गोद में एक बालक था, उसने उसे छोटी भाभी की गोद में रखते हुए कहा—यह हल्ला मचा रहे थे, कहते थे—आज मैं भी पागलखाना देखूँगा ।

बड़ी भाभी ने एक बार लड़के की ओर देखा, उनकी आँखें ललचाकर रह गईं । वह उत्सुक हुईं फिर शान्त हो गईं ।

छोटी भाभी उसे अपनी गोद से उतार उनकी ओर बढ़ाते हुए बोल उठीं—इसे गोद में लें, दीदी ! और आशीर्वाद दें—इसीसे उजड़े घर को प्रकाश मिलेगा । यह सुशील बाबू का''''''।

बड़ी भाभी ने उसे गोद में लेकर छाती से लगाया । स्नेहातिरेक से उनके सूखे वक्षस्थल से दूध के फौव्वारे-से छूटने लगे । बच्चा उनके विकराल वेश को देख भयभीत हो रहा था । मैं उसकी ओर एकटक दृष्टि से देखने लगा । आज का मिलन मुझे एक पहेली-सा बोध हो रहा था ! परिचारिका वहीं खड़ी थी । मैंने उसकी ओर एक बार आँखें उठाकर देखा, संभवतः कनखियों से वह भी मेरी ओर देख रही थी । पर, जब मैंने उनकी ओर

एकटक दृष्टि से देखा तब वह अपना सिर नीचे किए थी। मैंने उसे पहचान लिया—वह किशोरी थी।

मैंने छोटी भाभी से पूछा—यह कौन है, भाभी।

"क्या इसे आप नहीं पहचानते ?"—उन्होंने मुस्किराते हुए कहा, यही आपकी किशोरी है न, जिसके लिए आप·········।"

मैं लज्जा से गड़ गया।

उधर बड़ी भाभी का सामयिक उपचार किया गया! स्नान कराया गया, नये वस्त्र पहनाए गए।

हमलोग वहाँ से चल पड़े।

आज का दिन कितना आनंदप्रद था! फिर भी मेरे हृदय में भयंकर वेदना हो रही थी। वह वेदना और किसी दूसरी बात के लिए न थी। मैं चाहता था, कि बड़े भैया यदि इस अवसर पर इसी तरह मिल जाते तो कितना अच्छा होता! उस दिन रात को हमलोगों ने बड़ा ही उत्सव मनाया। रात को छोटे भैया से खुलकर बातें कीं। मैंने अपनी यात्रा का वर्णन उन्हें कह सुनाया। उन्हें सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

उषा के आग्रह से महोत्सव का एक दिन निश्चित किया गया। छोटी भाभी और छोटे भैया ने उसे सफल बनाने के लिए एक सुंदर तालिका तैयार की। सेवक-सेविकाएँ—सभी अपने-अपने कार्य में लग गए।

यथासमय वह अवसर भी आ पहुँचा। महोत्सव का प्रारंभ हुआ। घर पर सत्यनारायणजी की कथा कहवाई गई। आमंत्रित

सज्जनों से हाल ठसाठस भर गया। चारो ओर चहल-पहल थी। सब-के-सब आनंद और उल्लास से भरे थे। ठीक इसी समय बाहर एक घटना घटी। एक संन्यासी दर्वाजे पर आकर भिक्षा माँग रहा था। इधर तो सभी आमंत्रित व्यक्तियों की संवर्द्धना में लगे थे। पर, मैं बाहर की ओर कभी देख-सुन लेता—कदाचित् और कोई आमंत्रित व्यक्तियों में से आ न पहुँचे! मैंने उस नवागत संन्यासी को बैठने के लिए स्थान दिया। मैं वहीं उन्हें भोजन भी कराना चाहता था, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे केवल इतना ही बोले—मुझे भिक्षा दे दो, मैं अपने मठ में ही जाकर भोजन करूँगा।

उनकी आकृति देखकर मैं कुछ सोच रहा था। जान पड़ता था—हों-न-हों—बड़े भैया हैं। इसलिए मैं बोल उठा—आपका शुभ नाम!

उन्होने अपना नाम निगमानंद बताया। पर, मुझे इस नाम से क्यो संतोष होने लगा! अतएव, फिर से मैंने पूछा—यदि आपको विशेष कुछ आपत्ति न हो तो आप अपना पहले का नाम बतलाइए।

वह उठकर चलने को तैयार हुए। मुझे संदेह हुआ। मैंने उनके चरणों पर अपना सिर रखकर उनसे प्रार्थना की—आप रात भर यहीं रहकर उत्सव में योगदान कीजिए।

मैंने जिनके लिए इतने दिनों तक तपस्या की, सभी सुखों को छोड़ राह-राह की खाक छानी, फिर उन्हें क्योंकर जाने दे

सकता था ! उन्होंने कदाचित् मुझे पहचान लिया था। उन्होंने अपनी छाती से लगाते हुए कहा—मैं कलंकी तुम्हारा भाई हूँ सुशील ! मुझे अब इसी वेश में रहने दो। मैंने तुम्हें ही नहीं, सारे परिवार को मिट्टी में मिला दिया। घर का सर्वनाश तक कर डाला········।

मैंने बीच ही में बात काटकर कहा—नहीं भैया। जो कुछ होना था—होकर रहा। अब फिर आपका वही स्थान है और हम लोग आपके उसी तरह अधीन !

उधर उत्सव समाप्त हुआ। सभी भोजन कर बाहर आए। मैंने सभी के सामने भैया का परिचय दिया। सभी प्रसन्न [illegible]। उन्हें मैं अपने साथ भीतर लाया। बड़ी भाभी उनके चर- पर फूट-फूटकर रोने लगीं। सब कोई निर्वाक होकर एकटक उनकी ओर देखने लगे। भैया की आँखों से करुणा की धारा प्रवाहित हो रही थी।

× × × ×

एक सप्ताह के बाद। एक दिन उषा ने मुझसे कहा—"मु[illegible] अपना घर न दिखाओगे, प्रियतम ! क्या अच्छा हो, यदि हम सभी मिलकर घर को चल चलें। क्योंकि मेरे देवता का मातृ-मंदिर है न।"

"विचार स्तुत्य है ! पर आज्ञा लेने दो छोटी भाभी से।"